रंग संवाद

अगस्त-जनवरी 2013

वनमाली सृजन पीठ का
त्रैमासिक संवाद पत्र

प्रधान संपादक

संतोष चौबे

संपादक

विनय उपाध्याय
vinay.srujan@gmail.com

संपादक मंडल

राजेश जोशी, राम प्रकाश, मुकेश वर्मा,
महेन्द्र गगन, बलराम गुमास्ता, राकेश सेठी

शब्दांकन : मुकेश सेन

संपादकीय संपर्क :
वनमाली सृजन पीठ,
22/E-7, अरेरा कॉलोनी,
भोपाल-462016
फोन : 0755-2423806, मोबाइल : 9826392428
ई-मेल : vanmalisrijanpeeth@gmail.com

●●●

ज़रूरी नहीं कि पत्रिका में संग्रहित आलेखों-चित्रों में व्यक्त रचनाकारों के विचारों से 'रंग संवाद' सहमत हो। किसी भी विवाद के लिए न्यायिक क्षेत्र भोपाल रहेगा।

वनमाली सृजन पीठ, भोपाल द्वारा प्रकाशित। मुद्रक - पहले पहल प्रिंटरी, 25-ए, प्रेस कॉम्प्लेक्स, भोपाल

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

'कथन' को वनमाली साहित्यिक पत्रकारिता सम्मान

'रंग संवाद' को डॉ. विद्यानिवास मिश्र सम्मान

➲ अनुक्रम

हमारा समय और संस्कृति- मनोज श्रीवास्तव / 6

नाटक की उत्तर-आधुनिकता और कालिदास - रमेश दवे / 9

लोक और शास्त्र की संधि प्रसाद के नाटक - रीतारानी पालीवाल / 14

कलाओं का स्वर्ण समय में कालिदास की कृतियाँ - मनोहर वर्मा / 19

अपने अभिनेता को बचाए रखा -
अलखनंदन से सात सवाल / 21

नाटक सामाजिक आंदोलन है
रंगकर्मी वसंत काशीकर से शांतिलाल जैन की बातचीत / 25

थियेटर में पैसा नहीं है- यह तर्क गलत है - / 33
रंगकर्मी बहारुल इस्लाम से रफी शब्बीर की बातचीत

ऐसे थे हम सबके भैयाजी - प्रेमशंकर रघुवंशी / 35

ओम भारती की कविताएँ / 40

मारिन सोरेस्यू की कविताएँ - अनुवाद : मणि मोहन / 41

अनुपस्थित में उपस्थिति की बानगी - मोहन सगोरिया / 42

सृजन के आसपास : देश भर की सांस्कृतिक-साहित्यिक हलचल / 44

शेष-विशेष : गुणकारी और बेहतर की तलाश - विनय उपाध्याय / 62

पाठक संवाद / 64

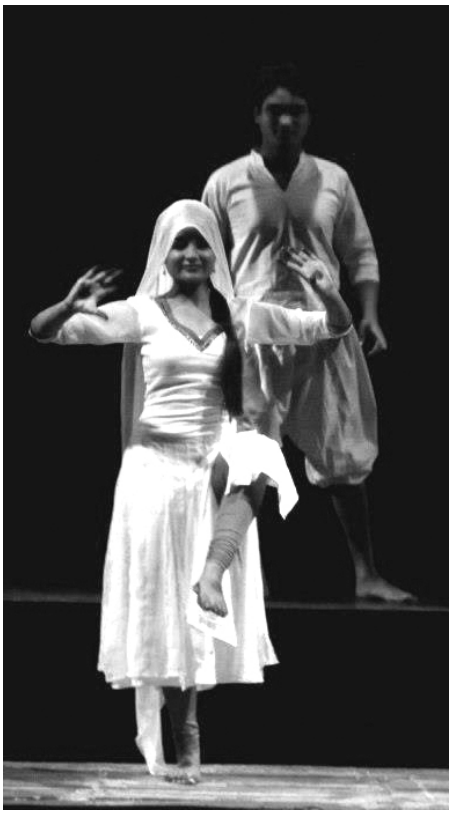

आकल्पन : विनय उपाध्याय ● **मुख्य तथा अंतिम आवरण चित्र** : विजय रोहतगी ● **आवरण सज्जा** : वंदना श्रीवास्तव
● **भीतर के छायाचित्र :** विजय रोहतगी, सौरभ अग्रवाल, नीरज रिछारिया, प्रवीण दीक्षित, अमीन अख़्तर, अरुण जैन
● **रेखांकन :** के. रवीन्द्र, सिद्धेश्वर, अंकिता ● **समन्वय सहयोग** : मोहन सगोरिया तथा वसंत सकरगाए

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

संपादकीय

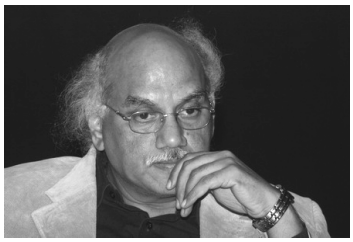

रंगमंच और सिनेमा : वर्तमान परिदृश्य

पिछले दिनों मुझे कुछ महत्वपूर्ण गोष्ठियों का हिस्सा बनने का अवसर मिला जो रंगमंच और सिनेमा के संदर्भ में कुछ बहुत ज़रूरी सवाल उठाती थीं। मुझे लगता है कि उन सवालों को आपसे साझा किया जाना चाहिये।

भोपाल में पिछले चौदह वर्षों से एक वृहद् नाट्य समारोह का आयोजन किया जा रहा है जिसे 'रंग आधार' नाट्य समारोह के रूप में जाना जाता है। विश्व रंगमंच दिवस यानी 27 मार्च से प्रारंभ होने वाला ये समारोह करीब दस दिन तक चलता है, जिसमें वरिष्ठ एवं युवा नाट्य निर्देशक अपनी नई से नई प्रस्तुतियाँ प्रदर्शित करते हैं। पिछले पाँच-छः वर्षों से यह समारोह 'रंग आधार' तथा 'वनमाली सृजन पीठ' द्वारा संयुक्त रूप से आयोजित किया जा रहा है।

इस बार इस समारोह के पूर्वरंग के रूप में, कला समीक्षा की प्रतिष्ठित पत्रिका 'कला समय' ने एक रंग संवाद का आयोजन भी किया जिसमें कवि-विचारक राजेश जोशी के साथ-साथ रंगकर्मी संजय मेहता, सरोज, सौरभ अनंत, विनय उपाध्याय और मैं स्वयं शामिल थे। भोपाल के रंगमंच से जुड़े अनेक कलाकारों और निर्देशकों ने भी इसमें हिस्सा लिया।

बीज वक्तव्य के रूप में श्री राजेश जोशी ने दो तीन बातें कहीं जो आज के विमर्श का हिस्सा बनना चाहिये। जैसे कला एवं कला संस्थाओं की स्वायत्तता का सवाल। उनका मानना था कि कला और साहित्य के क्षेत्र में अधिक से अधिक संस्थाओं का गठन और पत्रिकाओं का प्रकाशन होना चाहिये जो कठिन समय में कला की स्वायत्तता को बचाये रख सकें, और उन्हें सरकारों पर कम से कम निर्भर होना चाहिये। उन्होंने यह भी कहा कि अपनी नाट्य परंपरा को पहचानने और लोक नाट्य के रूपाकारों को प्रयोग करने पर ज़ोर दिया जाना चाहिये, जिसमें बोलियों का प्रयोग शामिल है। उन्होंने छत्तीसगढ़ी और बुंदेली में किये गये कई नाट्य प्रयोगों का ज़िक्र किया और कहा कि इस तरह के प्रयोग भी 'यूनिवर्सल' हो सकते हैं। 'अंधेर नगरी' का उदाहरण देते हुये उन्होंने कहा कि अगर नाटक स्वयं ताकतवर है तो उसका ढांचा खुला खुला होगा और निर्देशक तथा कलाकार के लिये रचनात्मकता की जगह छोड़ेगा। लोक रूपों में ये संभव है, जबकि आधुनिक नाटक जैसे 'घासीराम कोतवाल' में, निर्देशक अपने आपको बंधा-बंधा पाते हैं और ये नाटक उतनी रचनात्मकता की गुंजाइश नहीं छोड़ते। उन्होंने लेखक नाट्य निर्देशक तथा कलाकारों के संवाद पर भी बल दिया जिससे नाटक, लेखकीय एवं निर्देशकीय प्रतिभा से ज्यादा अर्थवान, ज्यादा ऊर्जावान बन सके। इस तरह के संवाद के बिना नाटक से विचार गायब हो जाता है और वह सिर्फ एक यांत्रिक क्रिया बन कर रह जाता है।

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

कलाओं और संस्थाओं की स्वायत्तता को लेकर श्री राजेश जोशी के विचार से असहमत नहीं हुआ जा सकता हालांकि जानकार लोग इसके कई निहितार्थ लगा सकते हैं, विशेषकर इसलिये भी, कि ये विचार उनकी ओर से प्रस्तुत किया गया। 'वनमाली सृजन पीठ' अपने कार्य व्यवहार में स्वयं इस स्वतंत्रता की पक्षधर है और अपने काम से इसके उदाहरण प्रस्तुत करती रही है। पर लोक परंपराओं तथा लोक रूपों के प्रयोग पर सचेत रूप से बात करने की ज़रूरत मुझे लगती है। अधिकतर लोकरूप एक मंचीय दृश्य के रूप में, ध्वनि और संगीत के रूप में हमें आकर्षित करते हैं पर यह भी सच है कि उनकी एक अपनी 'कॉस्मोलॉजी' है, एक कथा है, एक रूप विधान है, एक मूल्य बोध है और उसमें आधुनिक कथा या आधुनिक विचार ठीक-ठीक अंटता है या नहीं, ये देखा जाना चाहिये। हबीब तनवीर जैसे ब्रिलियंट नाट्य निर्देशक ने ये काम करके दिखाया था पर बुंदेली के प्रयोगों में वह बात नहीं बनी। अगर लोक रूप और उसके गीत संगीत को सिर्फ सजावट की वस्तु बना लिया जाये तो उसके नाटक और उसकी कथा-वस्तु का कितना भला होगा? इस पर विचार किया जाना चाहिये।

हिन्दी में नाटकों के अभाव में कहानियों और कविताओं के मंचन पर भी इसी तरह का तर्क लागू किया जा सकता है। कहानी और कविता अपने आप में एक संपूर्ण विधा है और अगर उन्हें नाटक में रुपांतरित किया जाये तो उनके नरेटिव या उनकी अंतर्लय को कितना और कहां तक डि-कंस्ट्रक्ट किया जा सकता है यह एक विचारणीय विषय है।

एक सवाल पोलेमिकल थियेटर को लेकर भी हो सकता है जो एक समय में पूरे भारत में विकसित हो रहा था लेकिन अब पूरी तरह गायब नज़र आता है। ऐसा क्यों है?

यहीं नाटक के भीतर एवं बाहर संवाद का सवाल महत्वपूर्ण हो जाता है। नाटक किस तरह के विचार या विचारधारा को प्रक्षेपित कर रहा है और उसके मनुष्यगत या सामाजिक सरोकार क्या हैं, यह संवाद वहाँ तक जायेगा।

•

इस बीच भारतीय सिनेमा के वर्तमान परिदृश्य पर वक्तव्य के लिये लेखक और सामाजिक कार्यकर्ता श्री जावेद अख़्तर भोपाल पधारे।

उन्होंने भी अपने वक्तव्य में 'भारतीय सिनेमा' का सवाल उठाया। उन्होंने कहा कि शुरू में पचास एवं साठ के दशक में जब उन्होंने लिखना शुरू किया था, तो कहा जाता था कि ऐसी कहानी और संवाद लिखो जिस पर ग्रामीण भारत में, कस्बों और छोटे शहरों में तालियाँ मिलें। पर अब यह 'भारत' फिल्मों से गायब हो गया है। अब कहा जाता है कि ऐसी कहानियाँ लिखो जिससे मॉल और मल्टीप्लेक्स में 500 से 1000 रुपये तक का टिकिट खरीद सकने वाला दर्शक आये, भले ही फिल्म 7 दिन या उससे भी कम चले, टेलीविजन एवं संगीत के अधिकार के माध्यम से पैसा तो निकल ही आयेगा। फिल्म विदेश में चलनी चाहिये जिससे डॉलर में कमाई हो सके।

फिल्मों में भारतीयता भी एक फैशन की तरह है। युवा गर्व से कहते हैं 'आई लव माई इंडिया' पर उनसे पूछिये कि अपने 'इंडिया' में आपको क्या पसंद है? क्या आपको भारतीय परिधान पसंद हैं तो वे नाक भौं सिकोड़ेंगे, क्या आपको भारतीय व्यंजन पसंद हैं तो शायद वे दायें-बांये देखने लगें, क्या भारतीय वाद्य यंत्र पसंद हैं तो उन्हें गिटार और ड्रम्स की याद आयेगी, क्या आप हिन्दी या भारतीय भाषाओं का साहित्य पढ़ते हैं तो

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

चेहरे पर अजीब वितृष्णा के भाव आयेंगे। नतीजा ये है कि हिन्दी की फिल्मों के संवाद भी अंग्रेज़ी में लिखे जाते हैं, कलाकार सामान्य बातचीत अंग्रेजी में करते हैं, प्रबुद्ध वर्ग ने भी हिन्दी की कहानियों या साहित्य से नाता तोड़ लिया है और अंग्रेजी की रौ में बहे जा रहा है। हिन्दी कहीं बोली जा रही है तो वह निम्न वर्ग की बस्तियों में और वहाँ से लौटकर जब वह फिल्मों में आती है तो उसका हाल आप देख ही रहे हैं। इसे उलटने के प्रयास होने चाहिये।

प्रयास हो भी रहे हैं और उन्हें भी युवा निर्देशक ही अंजाम दे रहे हैं। उनमें फिर अपनी परंपरा के उत्स खोजने पर ज़ोर है और वे इसमें निश्चित ही कामयाब होंगे। फिलहाल कहानियों में और फिल्मों में भारी विविधता आई है। उम्मीद की जा सकती है कि उनमें गहराई भी आयेगी। फिल्में सत्तर और अस्सी के दशक के घटिया दौर से अब बाहर आ गई हैं और आगे उनका भविष्य उज्ज्वल है।

राजेश जोशी का मानना है कि असल में हिन्दी क्षेत्र में हिन्दी समाज का वैसा सिनेमा विकसित ही नहीं हुआ जैसा बांग्ला या मलयालम में हुआ है। संवादों के लिये हमने पारसी थियेटर का स्टाइल चुना और कहानियों के लिये विदेशी कथानकों का सरल रास्ता। ये लगभग बिना जड़ों का सिनेमा है। दर्शकों की अभिरुचि को दोष नहीं दिया जा सकता क्योंकि वह आज भी अच्छी कहानी और अच्छे सिनेमा को अच्छा प्रतिसाद देता है। वह टेलीविज़न से ऊब चुका है और अच्छे रंगमंच तथा सिनेमा की ओर लौटना चाहता है। प्रश्न यह है कि क्या हम यह जोखिम उठा सकते हैं।

•

उपरोक्त दोनों ही गोष्ठियों में 'भारतीयता' एक मूल्य बोध के रूप में उभरती है। मेरे विचार में यह 'भारतीयता' किसी पुरातन किस्म के राष्ट्रीय आकाश की तरफ लौटना नहीं है। यह एक ऐसे आधुनिकता बोध से युक्त चेतना की तरफ लौटना है जो अपनी परंपरा को जानती है, विविधता तथा बहुलता का सम्मान करती है तथा पूरे विश्व को एक बाज़ार बनने से बचाती है।

प्रस्तुत अंक में आप श्री मनोज श्रीवास्तव तथा श्री रमेश दवे के आलेख पढ़ें। मेरी उपरोक्त अवधारणा की प्रतिध्वनि आपको उनमें सुनाई देगी। श्री अलखनंदन से साक्षात्कार में एक नाट्य निर्देशक के बनने की प्रक्रिया है। वसंत काशीकर ने रंगमंच को सामाजिक सरोकार माना है। इन महत्वपूर्ण आलेखों के अतिरिक्त सभी समारोहों तथा गतिविधियों का विवरण तो रंग संवाद में है ही।

उम्मीद है ये अंक आपको रोचक लगेगा। अपनी प्रतिक्रिया हमें अवश्य भेजें।

होली की शुभकामनाओं सहित,

❑ **संतोष चौबे**

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

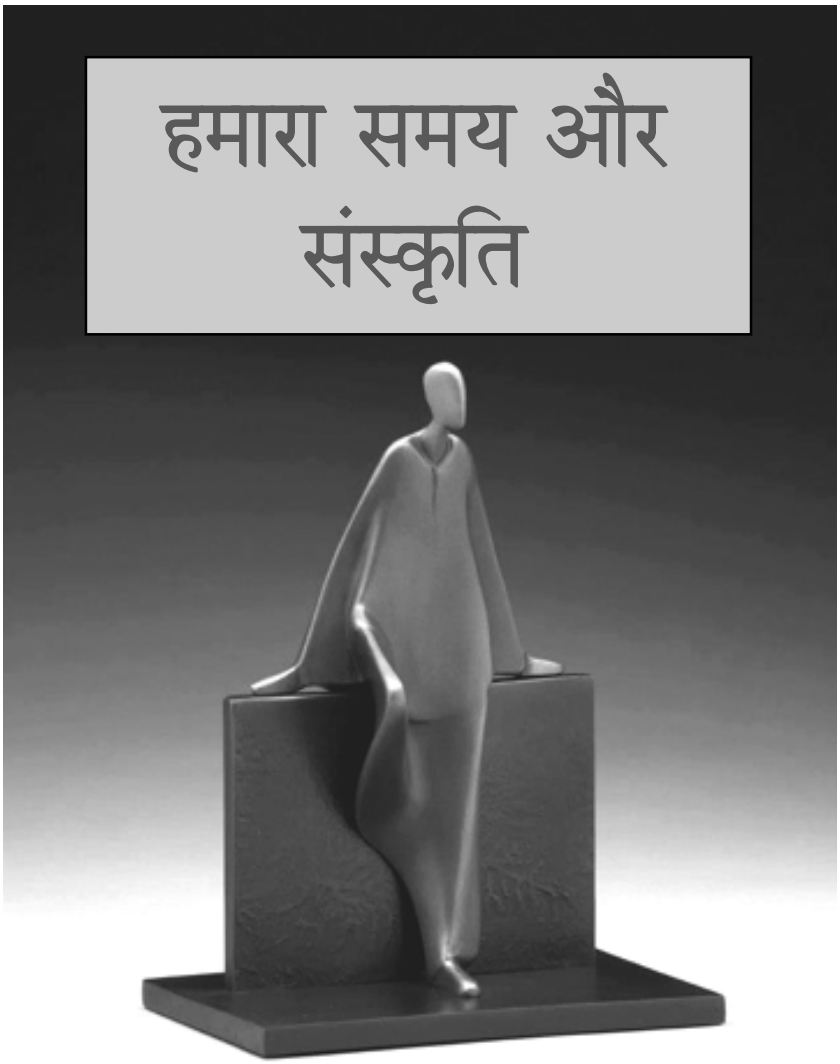

मनोज श्रीवास्तव

जिस संस्कृति को हमें अपना लक्ष्य बनाना चाहिए वो केवल आचरण में आदमी होने की तमीज़ है, वह दाय नहीं है, दायित्व है। अतीत को वर्तमान में जीवित और प्रतिबिम्बित करने की महत्वाकांक्षा नहीं है, वो रूढ़ि और दुराग्रह का तपता हुआ बंजर पठार भी नहीं है, वो है अपनी आइडेन्टिटी की तलाश और यह तलाश सिद्ध करती है कि संस्कृति स्मृति नहीं है, कोशिश है। परम्परा नहीं, प्रयोग है।

'हमारे समय को हमारी संस्कृति के विरुद्ध एक छुरे की तरह इस्तेमाल किया जा रहा है' यानी जिस समय में हुआ कि सोवियत संघ में दो करोड़ लोगों को कम्युनिस्ट विरोधी होने के आरोप में मौत के घाट उतार दिया, कि नाजियों ने जर्मनी में पिचहत्तर लाख लोगों को मार डाला और उनके द्वारा छेड़े गये विश्व युद्ध में करीब बारह करोड़ लोग काल कवलित हुए, कि चीन में दो करोड़ लोग कम्युनिस्ट के विरोध में मौत के घाट उतार दिये गये, कि ग्वाटेमाल में एक लाख मय इण्डियन्स को, मय सभ्यता के भारतीयों को 1960-1981 के बीच खोज-खोज के मार डाला गया, कि जहाँ हिरोशिमा और नागासाकी हुए, कि जहाँ बम ब्लास्ट हुए, कि जहाँ पाकिस्तान ने पूर्वी पाकिस्तान में जो हत्याएँ कीं, उसे अभी 1997 में लिखी एक पुस्तक में आर.जे. रमेन ने जेनोसाइड की जगह डेमोसाइड का नाम दिया। एन्थोनी मेस्करहंस और डोनल्ड वी.चिल्ड्रा ने इसकी संख्या बतायी है 10 से 30 लाख। लेनिन फिडरल और कास्त्रों पर 30-30 हजार हत्याओं से कम का प्रत्यक्ष दोष नहीं मढ़ा गया।

उस समय में मैं सोचता हूँ और ये सोचकर मुझे बड़ा आश्चर्य होता है कि उस समय में इतनी ताप बची है कि वो हमारी संस्कृति को आँखें दिखा सके। इन सब नृशंसताओं से नितान्त निरपेक्ष संस्कृति पर प्रश्न खड़े करते चलते हैं। मैं पहले संस्कृति के बारे में कुछ बुनियादी और शुरुआती सफाई देता हूँ और वो सफाई भी प्रश्नों के माध्यम से ही। संस्कृति क्या है? एक क्षय है, जो वर्तमान को उसकी आधुनिकता से जोड़ता है। एक भार है, जिसे सहर्ष वहन करके हम अपने उन पूर्वजों के प्रति जिन्होंने हमें जन्म दिया, आभार प्रकट करते हैं? अपने जातीयबोध और स्मृति के नाम पर कुछ निश्चित स्थिर सूत्रों का मिस्ट्रवेशन है, एक निरपेक्ष स्वप्न है कि यूथोपिया? प्राथमिकताओं, वरीयताओं को बदलने की पूँजीवादी चाल है या चिर आज़माया हुआ रामबाण, जिसका चक्षु चिरवण हमारे कष्टों व रोगों को छूमन्तर कर देगा, कोई पहनावा है, कोई धोती, कुर्ता, कमीज़ है? मेरा विचार है कि जिस संस्कृति को हमें अपना लक्ष्य बनाना चाहिए वो केवल आचरण में आदमी होने की तमीज़ है, वह दाय नहीं है, दायित्व है। अतीत को वर्तमान में जीवित और प्रतिबिम्बित करने की महत्वाकांक्षा नहीं है, वो रूढ़ि और दुराग्रह का तपता हुआ बंजर पठार भी नहीं है, वो है अपनी आइडेन्टिटी की तलाश और यह तलाश सिद्ध करती है कि संस्कृति स्मृति नहीं है कोशिश

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

है। परम्परा नहीं है, प्रयोग है। अपनी अस्मिता के होने को उचित सिद्ध कर पाने के लिए किया गया उद्यम संस्कृति है। वो कोई धरोहर, जमा पूँजी, उत्तराधिकार या विरासत मात्र नहीं है। अधिक से अधिक वो इस बात की परिचायक है कि इस धरोहर को लेकर आप करते क्या हैं? राम नाम के 108 जापों की तरह मात्र उच्चारण करते हैं और अपनी यथास्थितिशीलता का चेक भुनाते हैं या फिर इस जमा रोकड़ में अपनी तरफ से उपलब्ध कुछ अधिक जोड़कर अपने होने को प्रमाणित करते हैं। मुश्किल ये हुई है कि हम हिन्दुस्तानी संस्कार को, जिससे संस्कृति शब्द बना है कोई ऐसा रिक्त समझ बैठे हैं, जो अपने परवर्तियों को दिया जाता है। ये समझ औसत भारतीयों की दुर्दशा का कारण है। हम संस्कार देते हैं, करते नहीं। इस क्रिया विपर्यय में हमारी सारी जड़ता, पिछड़ेपन, अन्धविश्वास और अधोगति का रहस्य छुपा हुआ है। संस्कार देना और करना, जब तक हम इन दोनों के बीच विद्यमान अन्तर को नहीं समझ लेते, तब तक हमारी कोई मुक्ति सम्भव नहीं। संस्कृति का अर्थ है- अपना निरन्तर संस्कार करना, लगातार परिमार्जन करना, अप्रतिहद परिस्कार करना, सतत् संशोधन करना। मुझे याद आता है कि हिन्दी के प्रसिद्ध कुछ लोग पद पाकर गौरवान्वित होते हैं और कुछ पाये हुए पद को गौरवान्वित करते हैं। महान वैज्ञानिक अब्दुल कलाम हमारे कुछेक महान राष्ट्रपतियों की पाँत में अलग प्रभा लेकर खड़े दिखाई देते हैं। वे जब इस महान गणतंत्र के प्रथम पुरुष के रूप में आसीन हुए थे, तब जो मैंने अपनी दैनन्दिनी में दर्ज़ किया था, वहीं उन्होंने अपने युवा प्रशंसक की ऑटोग्राफ बुक में लिखा था कि बुज़ुर्गों को छाती पर नहीं सामने की आराम कुर्सी पर बिठाओ। हमारी त्रासदी यही है कि 'हमने अपने बुज़ुर्ग अतीत को छाती पर चढ़ा रखा है, जहाँ वह बराबर मूँग दल रहा है'। संस्कार दिया जाना इस असंगत क्रिया के साथ संस्कार प्रयोग के परिणामस्वरूप हम मिट्टी के अन्धकार में धंसे रह गये हैं, अंकुरित और प्रकाशित नहीं हुए। अतीत को छाती पर चढ़ा लेने की बजाय अचेतन अनकॉन्शस में ही जमा रहना देना चाहिए। क्योंकि पहली स्थिति में जहाँ वो शोषण, अत्याचार और आत्महनन का औज़ार बन जायेगा, दूसरी दशा में वह हमारी प्रेरणा और स्फूर्ति सिद्ध होगा। यहीं पर मैं ये भी कहना चाहता हूँ कि कुछ लोग अतीत से कटी हुई आधुनिकता के दंभ में कुछ फूलकर विगत का साग्रह तिरस्कार करते हैं और ये ज्यादा गम्भीर अपराध लगता है, क्योंकि ये मिट्टी के अन्धकार में ही सही हमारी जड़ों को निर्भीकता से इस तरह धंसने और फैलने नहीं देता कि हमारी रचनात्मक ऊर्जा का पौधा स्वतः ही प्रस्फुटित और पल्लवित हो। आधुनिकता के नशे में हम एक अत्यन्त महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक तथ्य भूल रहे हैं कि आज का मनुष्य अपने मन की गहनतम तहों में अपने अतीत के सभी जीवन्त अंशों को बराबर ढोता चला जा रहा है, कालियुग ने सामूहिक अवचेतन 'कलेक्टिव अनकॉन्शस' के प्रत्यय को प्रतिपादित और परिभाषित जब किया था तो उसने लिखा था कि मनुष्य के सामूहिक अवचेतन का साँचा प्रायः एक-सा होता है, जिसकी अभिव्यक्ति जातीय अवदानों, मित्स और आदि बिम्बों के रूप में होती है। आर्केटाइपल इमेजेस के रूप में एक प्रकार का आवर्तक साँचा है, रेक, रेन फेडरन है जो घूम-फिर कर प्रत्येक देव और प्रत्येक देश की संस्कृति में अभिव्यक्त होता है। इसी कारण इतिहास स्वयं को दोहराता है, यह मान्यता प्रचलित है। कला की ख़ूबसूरती इसमें है कि वो वातावरण में घुलती है, निजी और वैयक्तिक और स्वांतः सुखाय होने के बाद भी वातावरण में घुलती है। कलाकार की आत्मा सृष्टि के अपार कार्य-व्यापार में ग्लाइड करती है, कला स्वयं प्रकाशी है। इसके बावजूद भी वह अपने आलोक का विकरण नहीं रोक सकती। कैनवास कलाओं में भी, स्टिल लाइव चित्रों में भी मुझे नैरन्तर्य और गति

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

आभासित होती है। मानो ऊर्जा का एक पुन्ज है, जो एक चक्र भी है। कला अपने समय का अन्धेरा ही दूर नहीं करती, वो आकार ही तब लेती है, जब ये अन्धेरा मन के भीतर का अवसाद बन जाता है। फिर धीरे-धीरे किरणों का एक निर्झर फूटने लगता है। क्या एथेन्स फ्लोरेन्स, रोम और अन्य राज्यों की कला और साहित्य उसी समय उत्कृष्ट पर नहीं पहुँचे थे, जब उनका भौतिक और नैतिक क्षय शुरू हो गया था। व्यापक अज्ञानता और गुलामी के तिमिर में प्रतिभा के उज्जवलतम प्रवाह कहीं से फूट पड़ते हैं, कोई तुलसी के यहाँ से अवतीर्ण होता है, अभिव्यक्ति के ख़तरे उठाता है। लोग कहते हैं कि कला स्वतंत्रता की उपस्थिति में सम्भव होती है, मैं कहता हूँ कि कला स्वतंत्रता की अनुपस्थिति में ज्यादा प्रमाणिक तरीके से पनपती है।

कला अपने समय का अन्धेरा ही दूर नहीं करती, वो आकार ही तब लेती है, जब ये अन्धेरा मन के भीतर का अवसाद बन जाता है। फिर धीरे-धीरे किरणों का एक निर्झर फूटने लगता है। लोग कहते हैं कि कला स्वतंत्रता की उपस्थिति में सम्भव होती है, मैं कहता हूँ कि कला स्वतंत्रता की अनुपस्थिति में ज्यादा प्रमाणिक तरीके से पनपती है।

अन्धेरे के अहसास की सघनता जितनी बढ़ती जाती है, अपने समय की स्पिरिट की पहचान जितनी प्रखर होती जाती है, जितना दमन की ताकतों का दर्प बढ़ता जाता है, जितना कवि से उनकी विराट मुठभेड़ का संकल्प प्रबल होता जाता है। युग की आत्मा का जितना निवेश उसके भीतर होता जाता है, उतनी कला की प्रवीणता बढ़ती जाती है या अन्धेरे में जैसे मुक्तिबोध की कविता हो 'यह अमा दिशा में अन्धकार', दुष्यन्त की 'धुँए का एक घेरा' की अनुभूति हो, दृश्य के साक्षी बनते 'राम की शक्तिपूजा' हो या 'भीगे नैनों' से अपने समय के प्रलय प्रवाह का ओब्ज़र्वेशन हो। हमेशा बात जो है, उस अनकम्फरटेबल सेन्स ऑफ स्कॉट की है, अड़चन में पड़ी हुई असहमति की तीव्रता की। संस्कृति के लोग प्रायः सेल्फ अवेयरनेस के रूप में आत्म के जाग्रति के रूप में परिभाषित करते हैं। शायद वो हो भी लेकिन वो उस परिवृक्ष के प्रति भी जाग्रति है, जहाँ आत्मा के मैनुकुलेशन से पॉलिटिक्स चलती है।

क्या भारतीयों की एक विशेषता हम सबका ध्यान नहीं खींचती कि हम हिन्दुस्तानियों में एक तरह की अन्तर्सांस्कृतिक सम्बद्धता है, एक अन्तर्सांस्कृतिक क्षमता। भारतीय हर वातावरण में पतनता है, उसके सामने वह भावनात्मक परिपक्वता है, उसके भीतर और वो भौतिक शक्ति भी है, जिसके चलते वह उभर कर सामने आता ही है, यह विशेषता यहूदियों में भी है। लेकिन उसमें एक फ़र्क है- यहूदियों को अपने मूल देश को छोड़कर दुनिया भर में भटकना पड़ा, त्रासदियाँ झेलीं उन्होंने। जबकि भारतीयों को उनका अपना देश हमेशा उपलब्ध रहा। हालाँकि एक हज़ार साल की गुलामी ने उन्हें अपने ही देश में पराया ज़रूर बना दिया। देखने की बात यह है कि आधी दुनिया को गुलाम बना लेने के बावजूद यह इण्टर कल्चरल, कॉम्पीटेण्ट, ये अन्तःसांस्कृतिक सामर्थ्य विषमता दोनों में नहीं आयी। प्रभु भाव सीखने की जो एक सतत् विनम्रता का लाभ नहीं देती, जो 'स्व' से ज्यादा 'स्वत्व' की चिन्ता में लीन थे, जो सेल्फ अवेयरनेस की जगह मिल्क़ियत की फैलावट को अपनी प्राथमिकता मानते थे। उन गौरांग महाप्रभुओं को उपनिवेशवादी व्यवस्था में भी असहज लगता रहा और वो आज भी है।

दरअसल बहुदेववाद जो है, वह विकल्पों की बहुलता का जो मनोविज्ञान तैयार करता है, वह दुनिया की विविधताओं के प्रति अंगीकृत का भाव भी पैदा करता है। जबकि एकलदेववाद में ही कहीं कुछ ऐसा है, जो दुनिया को होमोजिनाइज़ करता है। पहले ये कॉलोनाइज़ेशन के ज़रिये करता था। आज ये इको-कोलोनाइजेशन के जरिये करता है। 1900 में सेसेल रोड्स ने न्यू वर्ल्ड ऑर्डर का सपना देखा था। जब उसने कहा कि ब्रिटिश साम्राज्य और संयुक्त राज्य अमेरिका को विश्व शान्ति के लिए संयुक्त रूप से एक फैडरल विश्व सरकार, जिसकी भाषा अंग्रेजी हो, अधिरोपित करनी चाहिए 'विश्व शान्ति' के लिए। लॉयनल क्रिट्स को भी इस विचार पर बहुत विश्वास था और वे वेट्रो विल्सन के घनिष्ठ परामर्शदाता थे, एडवर्ड एम. हाउस उनको भी। कुर्टिस की 1938 में जो एक कृति प्रकाशित हुई 'द कॉमन वेल्थ ऑफ गॉड' उसका सार यह था कि संयुक्त राज्य और ब्रिटिश साम्राज्य के द्वारा संयुक्त रूप से स्थापित एक विश्व सरकार और उस विश्व सरकार को ईश्वर की कृति के रूप में पेश किया जाये 'अनेक्ट ऑफ गॉड।' टाइम पत्रिका में अभी 20 जुलाई 1992 को राष्ट्रपति क्लिंटन के विदेश राज्यमंत्री स्ट्रोब टॉलबोट कहते हैं कि अगली शताब्दी में राष्ट्र जीर्ण-क्षीर्ण हो जायेंगे और एक वैश्विक एकल प्राधिकारी, ग्लोबल सिंगल अथॉरिटी

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

को सभी राज्य मान्य करेंगे। ये होमोजिनाइज़ेशन है, जो एकलदेववाद से पनपता है, वो अन्ततः सिंगल अथॉरिटी तक पहुँचता है। सन् 2000 में एक एलबम आया था- रेड हॉट, 'रेड हॉट चीनी पेपस'। उस एलबम में एक गाना था 'कैलीफोर्निकेशन'। उसकी एक पंक्ति थी 'टाइटल सेक्स कुड इन वर्ल्ड फाम ऑफ कैलिफोर्निकेशन।' समुद्री ज्वार की तरंगें भी दुनिया को कैलिफोर्निकरण से नहीं बचा सकीं। बहुदेववाद में दृष्टि का जो एक जनतंत्र है, वहाँ स्थानीयताओं की विपुलताओं का सम्मान है और उसके ठीक पीछे जो दृष्टि है, उसके विश्व स्वप्न में एक तरह का विसन्दर्भीकरण है, एक तरह का डि-कन्डुलाइज़ेशन है।

सन्दर्भ और अप्रसंग की विशिष्टताओं का आदर होने लगे तो विश्व व्यापार संगठन का पूरा ढाँचा ही ज़मींदोज़ हो जायेगा। इसलिए इस दौर के समय के कुछ सांस्कृतिक संघर्षों को ध्यान से देखिये। विश्व व्यापार संगठन की जो व्यवसाय विधि है, उसको ध्यान से देखें। वहाँ समझौते के सभी क्षेत्र जो हैं, वे संस्कृति के तर्कों को सीमित करते हैं। विश्व व्यापार संगठन के गठन से लेकर अभी तक संस्कृति सम्बन्धी जो साक्ष्य इकट्ठी हुई है और जो अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में गयी है, उसमें जितने भी निर्णय हुए हैं, वे सभी निर्णय किसी देश के द्वारा अपनी संस्कृति को संरक्षित करने के अधिकार को परिसीमित करते हैं। 1997 का एक निर्णय है, जो कनाडा के विरुद्ध हुआ। वो अमरीकी सांस्कृतिक एकाधिपत्य को सुनिश्चित करना है। जब कोई क्राफ्ट, कोई शिल्प इस एकाधिपत्य के चलते ख़त्म होता है, तो उससे जुड़े सबद और रमैनी, लोक गीत, जीवन शैलियाँ अभिव्यक्तियाँ और कलाओं की शताब्दियों से चली आ रही अनुगूँजें भी ख़त्म होती हैं। क्या जुलाहा कबीर नहीं होता या चर्मकार रैदास न था। एक क़ारीगर के पड़ौस, एक कारीगर की रसोई रचनात्मकता और आध्यात्मिकता की कितनी तहों से महकती थी- पीपा, धन्ना, नानक, सेन ये सब अपने व्यवसाय को अपनी भाषा से पृथक नहीं रख सकते थे। लेकिन आज इन्हीं लोगों को टाइम वार्नर के और डिजनी के और वालमार्ट के इन्हीं तर्कों से जूझना है, जो सांस्कृतिक संरक्षणवाद के विरोध में गढ़े गये हैं। वो तर्क चूँकि आर्थिक संरक्षणवाद और सांस्कृतिकवाद को एक ही धरातल पर ऐसे रखते हैं मानो भाषा भी किसी कारखाने का उत्पाद है।

नाटक की उत्तर-आधुनिकता और कालिदास

रमेश दवे

यदि 'रघुवंशम्' के प्रथम सर्ग के प्रथम श्लोक की प्रथम पंक्ति के साथ आज के विमर्श में प्रवेश किया जाए तो कुछ तर्क और तथ्य ऐसे उभर सकते हैं जिनसे आधुनिक और उत्तर आधुनिक रंगकर्म के संदर्भ प्रकट हो सकते हैं।

वागार्थाविव सम्प्रक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पारवतीपरमेश्वरो।।

सामान्य अर्थ है जैसे वाणी और अर्थ पृथक होकर भी एक कहलाते हैं वैसे पार्वती और शिव दो रूप होकर भी वस्तुतः एक ही हैं। अब भाषिक रूप से और नाटकीय रूपक के संदर्भ में इस श्लोक का विवेचन किया जाए तो जो अर्थ प्रकट होंगे वे इस प्रकार हो सकते हैं- भाषिक अर्थ : वाणी और अर्थ का एक होना और वाणी और अर्थ का पृथक होना - इनसे क्या आशय प्रकट होते हैं। -वाणी है अर्थात् वह मनुष्यगत है, मानवीय है और उसका प्रथम रूप वाचिक है। -वाणी अर्थवान है अर्थात् उसमें मनुष्यगत व्यवहारों को अभिव्यक्त करने की शक्ति है। अर्थ विज्ञान की दृष्टि से शब्द तब तक निरर्थक है, जब तक अर्थ ग्रहण नहीं करता। शब्द वाणी बन कर ही मानवीय होता है। मानवीय कोई कर्म निरर्थक नहीं होता इसलिए वाणी निरर्थक नहीं हो सकती।

तीसरा भाषिक आशय है उत्तरआधुनिकता की दृष्टि से संकेत विज्ञान या सिमयोटिक्स का। इसमें वर्बल (verbal) और non-verbal दो प्रकार होते हैं। वाणी का यदि एक अर्थ उसका वाचिक होना है तो दूसरा उसका non-verbal अवाचिक या संकेतात्मक होना भी है। संकेत भाषा या चिह्न-भाषा हमारी आदिम संस्कृतियों ने ही खोज ली थी। आधुनिक भाषाविदों ने मधुमक्खी, तोते, अफ्रीका के वेरवेट बन्दर, मैना आदि की सांकेतिक और सीमित-वाचिकता का पता लगाया तो आदिमानव ने दो प्रकार के संकेतों का निर्माण किया था- एक मनुष्य-मनुष्य के बीच सूचना और सम्प्रेषण का; और दूसरा पशुवर्ग के संबोधन के लिए। आदिम मनुष्य ने इस प्रकार एक देह-भाषा का सांकेतिक आविष्कार कर लिया था और अनेक प्राकृतिक उपकरण भी उसके इन संकेतों में निहित थे- जैसे अग्नि, जल, सूर्य,

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

यदि उत्तरआधुनिकता डिकंस्ट्रक्शन या विसंरचना को एक पक्ष मानती है तो संस्कृत नाटकों ने प्राकृत का पात्रानुरूप उपयोग कर एक प्रकार से संस्कृत-संरचना या सिंटेक्स या स्ट्रक्चर में हस्तक्षेप किया। एक सर्जनात्मक भाषा कभी अपने सामान्य के चलन में नहीं रह सकती- इसलिए उसे विचलन करना ही होता है।

चन्द्रमा, तारे मौसम आदि। एडवर्ड पिंकर ने इसका विशद विवेचन भी किया है। इसलिए संकेत-भाषा का उत्तरआधुनिक आधार खोजा जाए तो आदिम लोक संस्कृति से लेकर शास्त्रीय रचनाओं तक मिल सकता है। यदि ऐसा नहीं होता तो शकुन्तला के लिए 'अनाघ्रातं पुष्प' जैसा रूपक घटित नहीं होता और एक भ्रमर के प्रसंग से शकुन्तला की समुची भाव मुद्रा प्रकट नहीं की जा सकती थी। ऐसे संकेतात्मक अनेक प्रसंग हमारे वाङ्मय में मिल सकते हैं, यदि उन पर संकेत-विज्ञान, अर्थविज्ञान और शब्दविज्ञान के साथ वाचिक-अवाचिक आधार पर अनुसंधान किया जाए।

इस प्रकार भाषिक विवेचन से एक उत्तरआधुनिक संदर्भ यह बनता है- यदि उत्तरआधुनिकता डिकंस्ट्रक्शन या विसंरचना को एक पक्ष मानती है तो संस्कृत नाटकों ने प्राकृत का पात्रानुरूप उपयोग कर एक प्रकार से संस्कृत-संरचना या सिंटेक्स या स्ट्रक्चर में हस्तक्षेप किया। एक सर्जनात्मक भाषा कभी अपने सामान्य के चलन में नहीं रह सकती- इसलिए उसे विचलन करना ही होता है। शायद इसीलिए यह माना गया है कि जो ''चलन है वह भाषा है और जो विचलन है वह साहित्य है''। कालिदास ने भी चलन से विचलन का उपयोग दो प्रकार से किया- एक वाचिक रूप से प्राकृत-प्रयोगों में और दूसरा संकेत के रूप में भ्रमर से लेकर हिरणी के सींग पर नेत्र खुजलाने जैसे अनेक प्रसंगों में।

अब एक उत्तरआधुनिक संदर्भ पर और दृष्टि डाली जाए। उत्तरआधुनिक रंगकर्म के चार महारथी-चैकिन, विल्सन, सेशनर और फोरमन माने जाते हैं। उन्होंने उत्तरआधुनिक नाटक को अनेक आधुनिक प्रचलनों से मुक्त किया। उन्होंने वाचिकता-अवाचिकता से भी आगे जाकर कहा कि नाटक अपनी उत्कृष्टतम प्रस्तुत में तब जाकर सर्वाधिक प्रभावकारी हो सकता है जब शब्द और संकेत सभी विलीन हो जाएं अर्थात् सभी 'ध्वनि' यानी sound में बदल जाएं। ध्वनि-भाषा से भी नाट्यध्वनियाँ बनती हैं वे वाचिक और सांकेतिक ध्वनियों से कई गुना अधिक सार्थक और प्रभावी होती हैं और दर्शक इन ध्वनियों में इतना निमग्न हो जाता है कि मंच, अभिनय एवं रंगकर्म से उसका तादात्म्य पैदा हो जाता है। यदि इस दृष्टि से कालिदास के वाणी और अर्थ के एकाकार होने को देखा जाए तो जो तीसरी संज्ञा प्रकट होगी वह ध्वनि ही होगी। 'ध्वनि' का एक रूप शब्दवान या वाणीवान भले ही न हो लेकिन वाणी अर्थवान और संकेतवान तो होती ही है और इस दृष्टि से जिन्हें आज उत्तरआधुनिक संदर्भ कहा जाता है- उन्हें आदिम लोक जीवन से लेकर वाङ्मय तक में खोजा जा सकता और कालिदास के नाटक इसके अनेक प्रसंग भी उपलब्ध करा सकते हैं। इसलिए बहु ध्वन्यात्मकता (polyphonicism) का पक्ष उत्तरआधुनिक संदर्भ में कालिदास के नाटकों में खोजा जा सकता है।

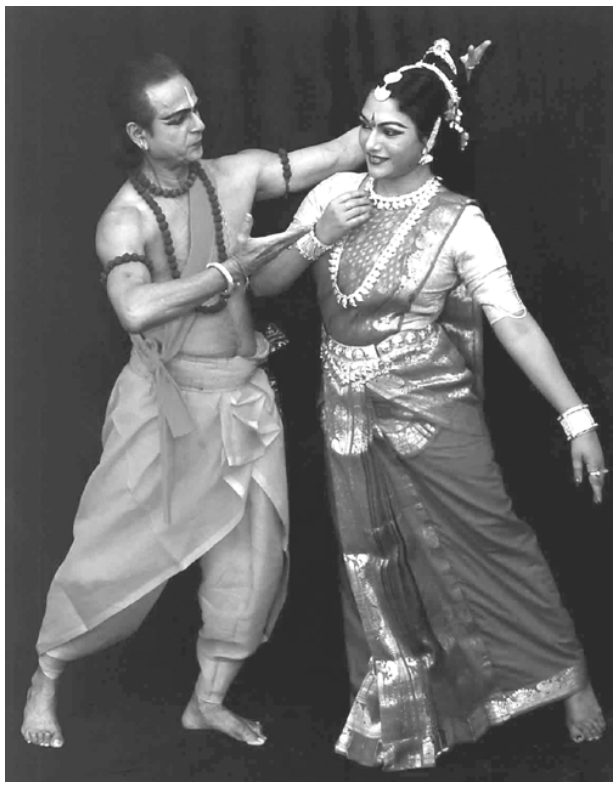

जिस श्लोक को लेकर यह इतनी बड़ी खींचतान है उसका दूसरा पक्ष रूपक या वाणी का है जिससे पार्वती और शिव के रूपक वाणी से अर्थसहित जुड़े हैं। 'रघुवंशम्' को कालिदास ने महाकाव्य के रूप में भले ही लिखा हो या अपने नाटकों की तरह न लिखा हो लेकिन वाणी के साथ पार्वती और शिव के रूपकों पर विचार आवश्यक है- पार्वती और शिव का एकाकार होना अर्थात् वाणी के दो प्रकारों का एक होना है। कालिदास ने 'पार्वती' शब्द को पहले दिया है- अर्थात् वाणी का प्रथम और सार्वभौम रूप 'स्त्रीलिंग' में है। पार्वती आद्या मातृरूपा है- इसलिए वाणी आद्या भी है और मातृरूपा भी-तभी तो 'मातृभाषा' जैसी संज्ञाएं भाषा या वाणी को लेकर रची गईं। वाणी का व्यापक व्यवहार मनुष्यगत कर्म से सम्बद्ध है और प्रत्येक मनुष्य-गत कर्म मानवीय होता है इसलिए उसका कल्याणकारी होना अनिवार्य है। इसलिए वाणी का व्यवहार और कर्म में कल्याणमय होना उसका शिवमय होना है। शिव एक पुरुष या पुल्लिंग रूपक है। दोनों का एकाकार ही सृष्टि है और साहित्य में सृजन है। कोई साहित्यिक रचना चाहे वाचिक हो या लिपिक, वह न केवल स्त्रीलिंग-स्त्रीलिंग में हो सकती है न केवल पुल्लिंग में और यदि नपुंसक लिंग में भी होती है तो उसका भी लिंग निर्धारित है।

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

अब इसको उत्तरआधुनिक संदर्भ में देखा जाए तो उत्तरआधुनिकता का एक बड़ा मुद्दा 'स्त्री' भी है और 'स्त्रीवाद' के बाद ही उत्तरआधुनिक चिन्तन गतिशील हुआ और आज जितने भी प्रचलित स्त्रीवादी मुहावरे हैं- जैसे जेण्डर-सेंसिटिव, जेण्डर-इक्वालिटी, जेण्डर-फ्रेण्डली (स्त्री के साथ), जेण्डर-आयडेंटिटी आदि और ये यदि फेमिनिज़्म हैं तो हमारे वाङमय में जो यह पहले से ही मौजूद था और कालिदास ने 'पार्वती' शब्द को प्राथमिकता देकर न केवल हमारे वाङ्मय से उद्भूत सांस्कृतिक बोध का परिचय दिया है बल्कि पूरे उत्तरआधुनिक विमर्श के लिए यह चुनौती भी रची है कि भारतीय साहित्य में स्त्री केवल भोगवस्तु नहीं है, वह भौतिक-काया मात्र नहीं है, वह वाणी है, सृष्टि है और वह पुरुष के बराबर या स्त्री संवेदी होने जैसा विचार ही नहीं है बल्कि वह तो मनुष्य और प्रकृति के साथ एकाकार है ठीक वैसे जैसे वाणी और अर्थ और उनके व्यक्ति वाचक संज्ञा-रूपक पार्वती और शिव।

अब कालिदास के नाटकों की ओर यदि आया जाए तो कुछ और बातें भी सूझती हैं- कालिदास के तीन नाटक हैं- अभिज्ञानशाकुन्तलम्, विक्रमोर्वशीयम् और, मालविकाग्निमित्रम्।

प्रथम नाटक में 'अभिज्ञान' एक रूपक की तरह है लेकिन उसकी केन्द्रीय नाट्य-वस्तु, नाट्य विषय और नाट्यविचार स्त्री अर्थात् शकुन्तला ही है। इस नाटक में कुल 35 पात्र हैं जिनमें से 12 स्त्री-पात्र हैं। यदि आज के उत्तरआधुनिक विचार के साथ देखा जाए तो कालिदास ने स्त्री पात्रों को एक तिहाई प्रतिनिधित्व उत्तरआधुनिक या आधुनिक विचार से बहुत पहले दे दिया था। अब भारतीय संविधान या संसद एक तिहाई आरक्षण का बिल पास करे या न करे किन्तु हमारे वाङ्मय साहित्य, में तो यह बिल पहले ही पारित कर दिया गया था और कालिदास ने तो अपने नाटकों और उनके मंच की संसद में उसे इतनी दृढ़ता से पारित कर दिया था कि शकुन्तला और उसकी सखियों का प्रतिनिधित्व किसी भी जेण्डर-संवेदी संसद से बड़ा है। कालिदास के दूसरे नाटक 'विक्रमोर्वशीयम्' में दस स्त्री पात्र और ग्यारह पुरुष पात्र हैं और यहाँ लाकर कालिदास ने स्त्री को लगभग इतना बराबर रख दिया है कि न केवल उर्वशी केन्द्रीय हो उठी है बल्कि उसके सौन्दर्य रूपकों के समक्ष पुरुष परामक्रम या पुरुष विक्रम पराभूत है। इस प्रकार जेण्डर-समानता का स्त्रीवादी विचार कालिदास ने दो हज़ार वर्ष से पहले रच दिया था और वह भी आनंद की परिणति के साथ-न कि ग्रीक ट्रेजेडी के पुरुष दुखान्तों की तरह और न ही शैक्सपीयर की ऐसी नायिकाओं की तरह जिनमें मातृत्व की मानवीयता की अपेक्षा महत्वाकांक्षा और खल-उद्यमों की हिंसक छवि अधिक है।

तीसरे नाटक 'मालविकाग्निमित्रम्' में कालिदास ने अपना ही रचा हुआ प्रलम्ब खण्डित कर दिया है और यदि ग्यारह अन्य पात्रों को पृथक कर दें तो स्त्रीपात्रों की संख्या जहां बारह है, वहीं पुरुष पात्र केवल दस। इसलिए यूरो-अमरीकी सभ्यता, साहित्य और उत्तरआधुनिकता के विचार का यह दंभ व्यर्थ है कि स्त्रीवाद के प्रणेता और पुरस्कर्त्ता वे हैं क्योंकि कालिदास के नाटक, चाहे ग्रीक नाटक हों, शैक्सपीयर, शॉ से लेकर ब्रेख़्त, बेकिट और हेरल् पिंटर तक हों या उत्तर आधुनिक नाटककार चैकिन, सेशनर, विल्सन और फोरमन हों, स्त्रीवर्चस्व और स्त्री-संवेदी नाटकों में उन सबसे ऊपर हैं। यूरो-अमरीकी नाटकों में आज भी स्त्री-संवेदी और स्त्री-समानता वादी दृष्टि उतनी मानवीयता से प्रकट नहीं हो पाई है जितनी कालिदास के नाटकों में। यह बात अलग है कि गोइठे, इबसन, शैक्सपीयर, पेकिट, ब्रेख़्त के नाटकों को लेकर आर्तो एवं फूको जैसे विचारकों ने मंच का अंत घोषित कर दिया हो लेकिन यहां क्या यह प्रश्न नृतत्वशास्त्र के आधार पर नहीं उठाया जाना चाहिए कि हमारे आदिम लोकरंग के पास तो मंच था ही

यदि उत्तरआधुनिकता भाषा को खेल की तरह देखती है तो आदिम संस्कृति में भाषा तो खेल की ही तरह संकेतों, गीतों, ध्वनियों आदि में मौजूद थी। यदि ब्रेख़्त और आर्तो जैसे रंगकर्मी दर्शक-सहभागी विधा मंच पर रच रहे हैं तो लोक मंच में तो दर्शक और मंच एकाकार हो जाते थे।

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

नहीं, कोरियोग्राफी थी ही नहीं, संवादों की लिपि थी ही नहीं, टेक्स्ट और सब-टेक्स्ट का झगड़ा आधुनिक अवाँगार्दो और उत्तर आधुनिकों जैसा था ही नहीं। अगर उत्तरआधुनिक आज टेक्स्ट को भी साउण्ड में विलीन करने जैसा विचार रख रहे हैं तो लोक जीवन में ध्वनियों का मंचन तो सर्वोत्कृष्ट रहा है। अफ्रीकी नाटककार और नोबेल पुरस्कार प्राप्त साहित्यकार वोले शोयिंका का 'डांस आफ द फारेस्ट' जैसा नाटक जब आया तो सारे यूरो-अमरीकी मंच को उसने चुनौती दे दी। अफ्रीकी ध्वनि-संगीत और नृत्य-नाट्य प्रस्तुतियों ने योरप अमरीका के लिपिबद्ध संगीत व नाटक पर अपनी लोकोन्मुखी प्रस्तुतियों से कब्ज़ा कर लिया। यदि ऐसा न होता तो ब्रेख़्त और लोर्का जैसे नाटककारों को पश्चिमी प्रणाली से पलायन नहीं करना पड़ता और बेकिट को 'ऊब' जैसे भाव को साहित्य में देकर यह नहीं कहना पड़ता कि जो दर्शक, पाठक या लेखक अपने से पहले और स्वयं अपने लेखन से निरन्तर ऊबता नहीं वह अपनी संभावनाओं को समाप्त कर लेता है। ऊबना, ऊब से मुक्ति की रचना के नए आयाम खोलता है। लातिनी अमेरिका के कोलंबिया ने आधुनिकता का प्रारूप तोड़कर जब भारत, चीन, नेपाल और जापान के लोकजीवन की आधुनिक मंच वस्तु को नकारा तो जो विखंडन का एक नया अध्यात्म रचा गया, वह भी उत्तर आधुनिक विखंड ही था।

सेम्युअल बेकिट ने अपने 'एंडगैम' नामक नाटक में एक महत्वपूर्ण संवाद अंत में दिया है- नाटक का मुख्य पात्र क्लोव कहता है- ''समाप्त हो गया, वह सब समाप्त हो गया, लगभग समाप्त हो गया, उसे लगभग समाप्त हो भी जाना चाहिए''। अब कालिदास के संदर्भ में यदि उत्तरआधुनिकता को परखा जाए तो ऐसा लगता है जैसे पश्चिमी उत्तरआधुनिकता का समूचा विचार अपनी ही सभ्यता से ऊबे हुए लोगों का विचार है और यदि वे अपनी ही संरचना खंडित करना चाहते हैं- चाहे वह भाषा की हो, साहित्यिक रचनाओं की हो, सामाजिक जीवन की हो, तो आधुनिकता से मोहभंग की उस संरचना का हर स्तर पर विखण्डन है। युद्धों से थका और चुका हुआ अमरीका और योरप उत्तरआधुनिकता के नाम पर अपना मूड बदलने जा रहा है। वह यूरो-अमरीका मूड से एशियाई अफ्रीकी मूड की ओर जाना चाहता है, वह आधुनिकता से ऊब और भाग कर आदिम लोक संस्कृति व परम्परा में पुनः अपने मनुष्य की खोज करना चाहता है और इस तरह आधुनिकता का समूचा अवांगार्दवाद, दादावाद, क्यूबिज़्म आदि छोड़कर यदि एक नए दुःस्वप्न का शिकार है तो लगता है उत्तरआधुनिकता कुछ और नहीं, बल्कि यूरो-अमरीकी आधुनिकता से ऊबे हुए व्यक्ति या उसकी, मरणशील सभ्यता का प्रायश्चित है। यदि रोरटी, ल्यौतार, फूको और देरिदा सबके सब महानायकों की मृत्यु घोषित कर रहे हैं तो दुनिया के किसी लोक जीवन और लोक साहित्य में कोई महानायक तो था ही नहीं। महानायक तो शास्त्रीय परम्परा ने रचे।

कालिदास ने पूरे उत्तरआधुनिक विमर्श के लिए यह चुनौती भी रची है कि भारतीय साहित्य में स्त्री केवल भोगवस्तु नहीं है, वह भौतिक-काया मात्र नहीं है, वह वाणी है, सृष्टि है और वह पुरुष के बराबर या स्त्री संवेदी होने जैसा विचार ही नहीं है बल्कि वह तो मनुष्य और प्रकृति के साथ एकाकार है ठीक वैसे-जैसे वाणी और अर्थ और उनके व्यक्ति वाचक संज्ञा-रूपक पार्वती और शिव।

यदि उत्तरआधुनिकता भाषा को खेल की तरह देखती है तो आदिम संस्कृति में भाषा तो खेल की ही तरह संकेतों, गीतों, ध्वनियों आदि में मौजूद थी। यदि ब्रेख़्त और आर्तो जैसे रंगकर्मी दर्शक-सहभागी विधा मंच पर रच रहे हैं तो लोक मंच में तो दर्शक और मंच एकाकार हो जाते थे। हर दर्शक मंच का सहभागी बन जाता था। इस प्रकार लोकमंच में शास्त्रीय नाटकों की तरह महानायक न होना क्या उत्तरआधुनिकों के लिए एक नया प्रश्न पैदा नहीं करता? लोक का नायक तो स्वयं लोक-समूह है, इसलिए उसका नायक या महानायक नहीं होता।

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

यदि कालिदास और भारतीय कालजयी नाट्य कृतियों का पुनर्अन्वेषण होता है तो भारतीय रंगमंच आधुनिक, उत्तर आधुनिक से हट कर अपना ही तीसरा आयाम रच सकता है।

उत्तरआधुनिक विचार में 'महा' शब्द का विचार या अवधारणा के रूप में 'प्रत्यय' और भाषा के आधार पर 'उपसर्ग' के रूप में एक प्रकार से निषेध जैसा है- इसलिए महानायक, महायोद्धा, महाआख्यान आदि शब्दों का अंत या महान व्यक्तित्वों और महान रचनाओं का अंत घोषित कर दिया गया है। अब यदि इस तथ्य का विचार लोक-संस्कृति के आधार पर किया जाए तो जैसा ऊपर कहा गया है- संभवतया दुनिया की लोक-संस्कृति में कहीं भी महानायक नहीं है। वहां तो लोक स्वयं सामूहिक नायक है। दुनिया भर के महाआख्यानों, महाकाव्यों और इतिहासों के महानायक या तो राजवंशों से आए हैं, या महायुद्धों और युद्धों से या धर्म और राजनीति से। भारतीय वाङ्मय में राम या कृष्ण हों, योरप में, होमर के इलियड-ओडेसी के एकिलस जैसे अनेक नायक हों या स्पार्टन्स हों, या सिकन्दर, नेपोलियन से लेकर चंगेज़ खाँ तक हों, सबके सब युद्धों और महायुद्धों से निकले महायोद्धा या महानायक कहलाए। उत्तरआधुनिकता में युद्ध सिमिट कर या तो विएतनाम, इराक युद्ध तक सीमित हैं या फिर आतंकवाद और सीमाई संघ्रों में। ये हिंसाएँ अमरीका का ट्विनटावर ध्वस्त कर सकती हैं, तालिबान और हिंसक आतंकवादी पैदा कर सकती हैं; किन्तु महायुद्ध पैदा नहीं कर सकतीं। इसलिए माना जाता है कि उत्तर आधुनिकता में कोई महानायक पैदा हो नहीं सकता। पारंपरिक और आधुनिक पश्चिमी नाटक नायक-केन्द्रित रहे और नायकों की मृत्यु के दुखान्त रचते रहे। भारतीय, अफ्रीकी, चीनी, जापानी, इंडोनेशियाई, थाइलेण्डी, लेटिन अमरीकी आदि नाटकों ने योरप के नाटकों की प्रणाली पर दो प्रकार से प्रहार किया- एक तो नाटकों के हिंसक पाठ और हिंसक प्रस्तुतियां बदलीं और उनकी जगह संवेदनात्मक धरातल रचे। आधुनिकता में ब्रेख़्त, लोर्का और बेकिट ने भी ऐसा किया, लेकिन चैकिन, शेखनर, आदि ने तो पाठ की हिंसा को सम्पूर्ण रूप से नकार दिया और सेखनर ने रामलीला एवं पीटर ब्रुक ने महाभारत का मंचन कर भारतीय कालजयी कृतियों से सारे योरप अमरीका को चौंका दिया। इसलिए उत्तरआधुनिक नाटक में आर्ट-परफारमंस अप्रोच, ग्रुप अप्रोच आदि को महत्व देकर नायक-नायिका की केन्द्रीयता समाप्त कर दी गई। अफ्रो-एशियायी मानवीय संवेदनाओं में कर दिया गया। यह भी प्रकारांतर से कहा जा सकता है कि उत्तरआधुनिक नाटक आधुनिकता के आगे का संस्करण न होकर पूर्वजों की परम्परा में जाने का एक छद्म प्रयास है। स्टेण्ड अप कामेडीज का मंचन क्या त्रासदियों से ऊबे पश्चिमी मानस की अभिव्यक्ति नहीं है? आज छद्मों को अपना कर भूमण्डलीय सभ्यता जिस प्रकार सारी दुनिया को एक मण्डी में, एक भाषा, एक जैसे वस्त्र, एक जैसा खान-पान, एक जैसे संगीत नृत्य आदि में बदल रही है, तो उसी प्रकार वह चाहती है कि नाटक या रंगमंच जो फिलहाल मनुष्य में मनुष्य का आकार देख रहा है वह उत्तरआधुनिकता का सार्वभौम अपना कर मनुष्य को टीवी, सिनेमा और सीडी-कैसेट के आकारों में देखे। कला, नृत्य, संगीत, नाटक सारी दुनिया का इस तरह एक हो जाए कि सारी दुनिया ग्राहक हो जाए और भूमण्डलीकरण के मण्डी-मालिक विक्रेता। इस छद्म को पहचानना ही, हमारा अपनी परम्परा और संस्कृति बोध में जाकर उसे सुरक्षित रखना है और ऐसे में कालिदास सहित भारतीय रंगकर्म अगर नई लोकमुद्रा अपना ले तो उत्तर आधुनिकता के इन छद्मों से बचा जा सकता है। वैसे भी उत्तर आधुनिकता अब नकारी जा चुकी है क्योंकि परंपरा व आधुनिकता दोनों से पलायन कर वह जिस तीसरे आयाम की रचना कर हर प्रकार के सर्जनात्मक प्रारूप का अंत घोषित कर रही थी, उस अंत का आरंभ हो नहीं सका और उत्तरआधुनिकता अपने ही विखंडन-विसर्जन और विसंरचना के मुहावरों में विलीन हो गई है। इन संभावनाओं के साथ यदि कालिदास और भारतीय कालजयी नाट्य कृतियों का पुनर्अन्वेषण होता है तो भारतीय रंगमंच आधुनिक, उत्तर आधुनिक से हट कर अपना ही तीसरा आयाम रच सकता है।

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

लोक और शास्त्र की संधि

प्रसाद के नाटक

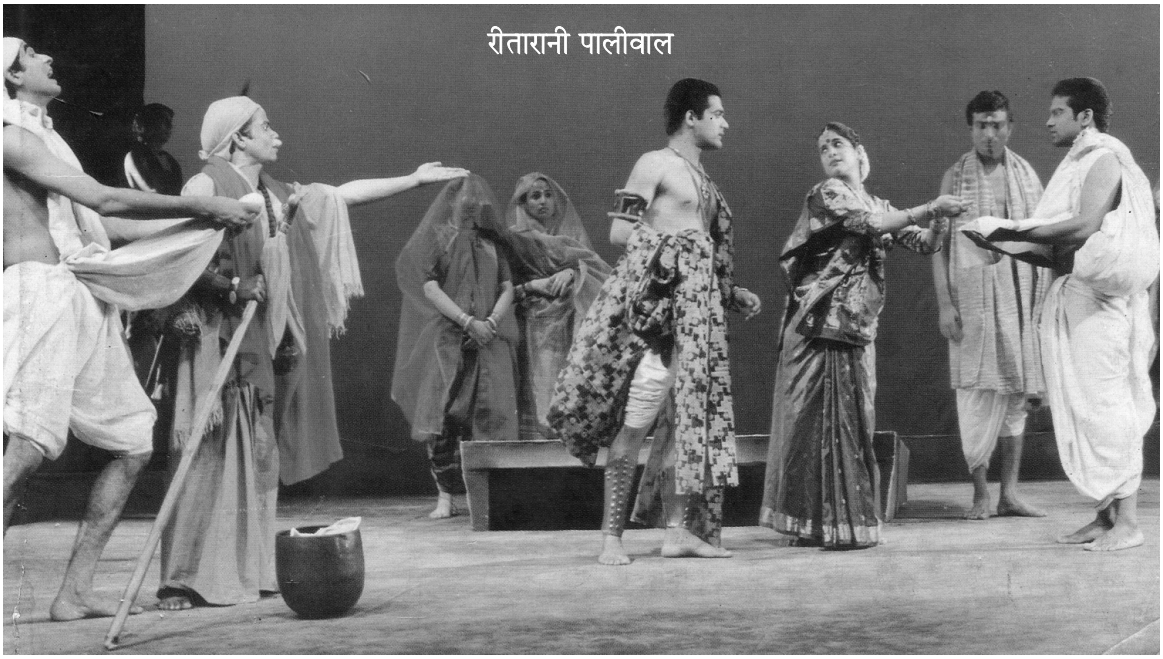

रीतारानी पालीवाल

जिस समय प्रसाद जी नाट्य लेखन कर रहे थे उस समय हिन्दी जगत पश्चिम के यथार्थवादी नाटक से न केवल परिचित हो चुका था बल्कि काफ़ी हद तक यह भी मान बैठा था कि रंगमंच की यही एकमात्र दिशा है जो जीवन और समाज से हमें जोड़ सकती है और मनुष्य की प्रगति का सर्वोत्तम मार्गदर्शन भी कर सकती है।

प्रसाद जी पिछली सदी के हिन्दी के अत्यंत महत्वपूर्ण, किन्तु सर्वाधिक विवादास्पद नाटककार रहे हैं। उनके नाटक अपने प्रकाशन के साथ ही समकालीन लेखकों, नाट्य-प्रेमियों और आलोचकों के सामने चुनौती के रूप में उपस्थित हुए। प्रसाद के जीवनकाल में ही कृष्णानन्द गुप्त, प्रेमचंद, लक्ष्मीनारायण मिश्र, बाबू श्यामसुंदरदास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल तथा अनेक नाट्य-प्रेमी उनके नाटकों की भाषा एवं रचना-विधान को लेकर रंगमंचीयता पर प्रश्न-चिह्न लगा चुके थे। प्रसाद के समकालीन बड़े आलोचकों में से वाजपेयी जी ने पहली बार प्रसाद के नाटकों की अंतर्बाह्य विशेषताओं को पहचाना। उनसे पहले आचार्य शुक्ल ने प्रसाद के नाटकों में भारतीय-पाश्चात्य नाट्य-दृष्टि के समन्वय की प्रवृत्ति की मुक्त मन से सराहना की है, इतिहास के माध्यम से प्रस्तुत समसामयिक राजनीतिक, सामाजिक प्रश्नों एवं प्रसंगों की अनुगूँज को शुक्ल जी की पैनी दृष्टि से प्रसाद के नाटकों में उन्हें खटकने वाली दिखाई देती है, नाटकीयता की कमी महसूस होती है। इस दृष्टि से वे प्रसाद की तुलना में हरिकृष्ण प्रेमी के नाटकों को बेहतर मानते हैं। चंद्रगुप्त के लंबे घटनाकाल को भी वह एक तरह की त्रुटि मानते हैं। (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 375-376)

सबसे पहले आचार्य वाजपेयी ने एक गुणग्राही पारखी के रूप में प्रसाद के नाटकों के ऐतिहासिक-सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य को पहचाना। इन नाटकों में सृजित ऐतिहासिक-सांस्कृतिक परिवेश की 'सम्पन्नता' और 'भावस्वरता' को महसूस किया। उन्होंने पहचाना कि प्रसाद के नाटकों में इतिहास केवल अतीत का रेगिस्तान नहीं है। वे इतिहास को सजीव, साकार तथा वर्तमान और भविष्य के लिए उपयोगी मानते हुए लिखते हैं- 'प्रसाद जी के नाटक हमारी संस्कृति के अध्ययन के लिए भी उपयोगी हो गए हैं। इतिहास से संस्कृति का समन्वय प्रसाद जी के नाटकों की प्रमुख विशेषता है। संस्कृति का आभास इतिहास के माध्यम द्वारा देते हुए प्रसाद जी ने अपने नाटकों में एक सुंदर सांस्कृतिक धारा का निर्माण किया है जिससे भारतीय संस्कृति के प्रवाह का परिचय मिलता है। ऐसा करते हुए प्रसाद जी ने समय-समय पर परिवर्तित होने वाली परिस्थितियों की उपेक्षा नहीं की है। बस भिन्न-भिन्न नाटकों में सांस्कृतिक स्थितियों का यथार्थ रूप देखते हुए भी उस अंतर्धारा का लोप नहीं होने दिया जिसे हम भारतीय संस्कृति की विकासोन्मुखी धारा कह सकते हैं। प्रत्येक नाटक में प्रसाद जी ने मुख्य पात्र या नायक को उस युग की सांस्कृतिक समस्याओं का प्रतीक माना है और उसके माध्यम से नवीन सांस्कृतिक निर्माण की सूचना दी है।' (आधुनिक साहित्य, पृ. 237)

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

एक और महत्वपूर्ण बात जिस पर वाजपेयी जी ने ध्यान दिलाया है वह पात्रों का निजी व्यक्तित्व जो उन्हें मानवीय और काफ़ी विश्वसनीय बनाता है- 'प्रसाद ने ऐतिहासिक घटनाक्रम के बोझ को स्वीकार करते हुए भी अपने पात्रों को सजीव व्यक्तित्व-सम्पन्न बनाया है। उनके सभी पात्र अपनी विशेषता रखते हैं। नाटकीय पात्रों में यह व्यक्तित्व-स्थापन या चरित्र-निरूपण का प्रयत्न हिन्दी नाटकों के विकास की एक ऐसी कड़ी है जो हिन्दी के नाटककारों में प्रसाद का एक स्वतंत्र स्थान निर्धारित करती है।... उन्होंने ऐसे चरित्र रचे हैं जो ऐतिहासिक परिस्थिति को चित्रित कर सकें और साथ ही जिनमें नाटकीय चरित्र बनने की क्षमता है। ...चरित्रों की सजीवता और बहुरूपता उनका सर्वप्रथम गुण है। ...चरित्र निर्माण संबंधी उनकी दूसरी विशेषता यह कि उन्होंने सभी पात्रों में अलग व्यक्तित्व-योजना का ध्यान रखा है।' (आधुनिक साहित्य, पृ. 232-233)

प्रसाद के नाटकों के पात्रों के मनोविज्ञान, उनके मन के भीतर की भावनाओं के वैविध्य, उतार-चढ़ाव, अंतर्द्वंद्व आदि विशेषताओं को वाजपेयी जी ने काफ़ी अच्छी तरह पहचाना है। पात्रों के शौर्य, लक्ष्य-निष्ठा की ओर शुक्ल जी ने भी ध्यान दिलाया था, विशेष रूप से प्रसाद के चंद्रगुप्त और चाणक्य के व्यक्तित्वों की मुद्रारक्षस के चंद्रगुप्त और चाणक्य से तुलना करते हुए। उन्होंने पश्चिमी ढंग से खील-वैचित्र्य का समावेश भी इन पात्रों के चरित्रांकन में मौजूद होने की चर्चा की है। फिर भी, आचार्य वाजपेयी ने प्रसाद के इन पात्रों को मिले निजी व्यक्तित्व के महत्व को गहराई से समझा है और उनके माध्यम से अतीत का वर्तमान और भविष्य से संवाद संभव बनाने की प्रसाद की क्षमता को परखा है- 'प्रसाद में चरित्र-निर्माण द्वारा भविष्य में भी उनकी छाया फेंकने का सामर्थ्य था। उनके पात्र मृत अतीत के निर्देशक नहीं हैं वर्तमान के लिए भी वे संदेश लिए हैं।' (आधुनिक साहित्य, पृ. 233)

इस तरह वाजपेयी जी प्रसाद के नाटकों के उस गुण को ग्रहण करने में समर्थ हैं जिसे अतीत की समकालीन प्रासंगिकता यानी contemprariety of the past कहा जाता है। आज़ादी की लड़ाई की पृष्ठभूमि में रचित इन नाटकों का केंद्रीय भाव है मुक्ति की चेतना जिसे अर्जित करने के लिए दृढ़ मनोबल और बाहुबल दोनों की आवश्यकता थी। नवजागरण से उत्पन्न इस ऊर्जा को प्रसाद अपने पात्रों के द्वारा सक्रिय एवं जीवंत रूप प्रदान करते हैं, और यह जीवंतता इतिहास की घटनाओं के माध्यम से निर्मित करते हैं। वाजपेयी जी प्रसाद के नाटक-सृजन की इस विशेषता को पकड़ते हुए लिखते हैं- 'प्रसाद जी ने पौराणिक आख्यान को अधिक नहीं अपनाया। यदि वे ऐसा करते, तो वह कदाचित अधिक प्रामाणिक भूमि पर न आ पाते। उनके नाटकों में अतीत युग की भारतीय वीरता और संस्कृति की इतिहास-सम्मत व्याख्याएँ और चित्र मिलते हैं।' (जयशंकर प्रसाद, पृ. 116)

ऐतिहासिक नाटकों में देश-काल की बहुविध सृष्टि में प्रसाद की कल्पना और बौद्धिकता की सर्जनात्मक उपलब्धि की ओर भी आचार्य वाजपेयी की दृष्टि गई है- 'तत्कालीन युगों की सामाजिक और सांस्कृतिक विकासधाराओं का चित्रण प्रसाद ने किया है। ...प्रसाद के नाटकों की एक अन्य विशेषता है उन युगों की सामाजिक और दार्शनिक विचाराधाराओं का निर्देश करने की। ...उनके समस्त नाटकों में बौद्धिक उपक्रम और दार्शनिक अंतर्धारा व्याप्त है।' (वही, पृ. 116-117)

पाठक/दर्शक की कल्पना को जगाते हुए उसे हज़ारों वर्ष पुराने अतीत के परिवेश में प्रवेश करा देने, प्राचीन समय के जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में विचरण कराने के साथ-साथ उसका वर्तमान के ज्वलंत प्रश्नों और समस्याओं से संपृक्त रखने की प्रसाद की यह विशेषता बहुत कुछ हजारी प्रसाद द्विवेदी के कथा-संसार से मिलती-जुलती है। जैसे द्विवेदी जी के उपन्यासों में हम प्राचीन भारत की एक सुरुचि सम्पन्न, किन्तु यथार्थ सांस्कृतिक भूमि की यात्रा का आनंद पाते हैं वैसे ही प्रसाद के नाटकों में।

जिस समय प्रसाद जी नाट्य लेखन कर रहे थे उस समय हिन्दी जगत पश्चिम के यथार्थवादी नाटक से न केवल परिचित हो चुका था बल्कि काफ़ी हद तक यह भी मान बैठा था कि रंगमंच की यही एकमात्र दिशा है जो जीवन और समाज से हमें जोड़ सकती है और मनुष्य की प्रगति का सर्वोत्तम मार्गदर्शन कर सकती है। हिन्दी में व्यवहारिक रंगमंच के अभाव ने जैसे हमें दिग्भ्रमित कर दिया था और हम पश्चिम के 'बॉक्स थिएटर' तथा यथार्थ के अंधानुकरण के रेगिस्तान में भटक गए थे।

वाजपेयी जी का विशेष योगदान यह है कि उन्होंने प्रसाद के नाटकों में अंतर्निहित काव्यात्मकता के मर्म को पहचाना। कथ्य और कथन दोनों में मौजूद इस काव्यत्व के लिए न तो उन्होंने प्रसाद की भर्त्सना की और न ही काव्यात्मकता में 'सामाजिक' की दृष्टि से दोष महसूस किया। शुक्ल जी प्रसाद के नाटकों के इस गुण को पहचानने में चूक गए थे और प्रसाद की तुलना में हरिकृष्ण प्रेमी के संवादों को, अधिक रंगमंचीय और दर्शकों के लिए अधिक संप्रेषणीय मानते थे। (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 376) शुक्ल जी ने प्रसाद के नाटकों की भाषा एवं संवाद को गद्यगीत कहा है जिसे वे नाटक का दोष ही मानते हैं। किन्तु वाजपेयी जी का मानना है- 'प्रसाद जी ने अपने नाटकों को यथार्थवादी भूमि पर नहीं रखा, उनकी शैली में चमत्कार तथा काव्यात्मकता है। शैली की विशेषता के साथ ही प्रसाद जी के संवाद भी काव्यात्मक हैं, बौद्धिक नहीं; उनमें कोरी बौद्धिकता, सम्भाषणपटुता या उक्ति वैचित्र्य नहीं है... वह गद्य कवित्व के अधिक समीप है। ...यह प्रसाद जी की अपनी विशेषता है।' (आधुनिक साहित्य, पृ. 237)

इस तरह हम देखते हैं कि वाजपेयी जी जयशंकर प्रसाद के

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

नाटकों की संवेदना एवं शिल्प में निहित उस काव्य तत्व को समझ-सराह सकने में समर्थ थे जिसे बाद में नेमिचंद्र जैन ने नाटक के लिए निहायत ज़रूरी माना, जब उन्होंने कहा कि काव्यानुभूति ही नाट्यानुभूति है। 'रंग दर्शन' नामक अपनी पुस्तक में उन्होंने लिखा- 'इस बात पर आज बहुत जोर देने की आवश्यकता है कि नाटक मूलतः काव्य का ही एक प्रकार है जिसमें सार्थक और महत्वपूर्ण अनुभूति की सूक्ष्म, संवेदनशील और गहन अभिव्यक्ति की आवश्यकता है। ...वास्तव में नाट्यात्मक अनुभूति एक विशेष प्रकार की तीव्रतम काव्यात्मक अनुभूति ही है जिसमें संवेदनाओं, भावों और विचारों के अधिक प्रत्यक्ष और दृश्य रूपों का संयोजन होता है। नाट्यात्मक अनुभूति के केवल उपादान ही भिन्न होते हैं, उसका मौलिक स्वरूप तो काव्यात्मक अनुभूति की भाँति ही चेतना के गहरे स्तरों से जुड़ा होना आवश्यक है।' (रंग दर्शन, पृ. 29) प्रसाद के नाटकों की काव्यात्मकता को दृष्टि में रखते हुए उन्होंने कहा कि 'काव्य के साथ नाटक के इस संबंध की पहचान नाटक के विकास के लिए अत्यंत आवश्यक है। यह ध्यान देने की बात है कि अपनी प्राचीन नाट्य परंपरा के बावजूद हिन्दी में हम यह बात शायद एकदम भूल गए। ....हमारी नाट्य चेतना प्रायः यूरोपीय यथार्थवाद के ह्रासकाल की चेतना है। ...जयशंकर प्रसाद के बाद का हिन्दी नाटक एक ओर तो काव्य की काव्यात्मकता से, जीवन की गहन और सम्पन्न अनुभूति से, विच्छिन्न होकर शुष्कता, निरर्थकता और क्षुद्रता की बंजर भूमि में जा पड़ा। दूसरी ओर वह छायावादी युग की अशरीरी भावुकता हवाई कल्पना और शब्द मोह में उलझ गया।' (रंग दर्शन, पृ. 30)

जयशंकर प्रसाद के बाद का हिन्दी नाटक तो काव्य की काव्यात्मकता से, जीवन की गहन और सम्पन्न अनुभूति से, विच्छिन्न होकर शुष्कता, निरर्थकता और क्षुद्रता की बंजर भूमि में जा पड़ा।

नेमिचन्द्र जैन जैसे नाट्य चिंतक काफी समय बाद आए, लंबे समय तक हिन्दी आलोचना प्रसाद के नाटकों के इस काव्यत्व को रंगमंचीय दोष ठहरा कर हिक़ारत की नज़र से देखती रही और व्यावहारिक रंगमंचीय गतिविधियों के अभाव में प्रसाद को स्वयं अपने नाटकों को लेकर द्विधाग्रस्त हो जाना पड़ा। सन् 1979 में जब रत्नशंकर प्रसाद ने 'अभिनय चंद्रगुप्त' छपवाया तो यह तथ्य उभर कर सामने आया कि किस तरह के दबावों-तनावों के चलते प्रसाद जी ने चंद्रगुप्त नाटक का यह मंचीय संस्करण सन् 1934 में 'रत्नाकर रसिक मंडल' द्वारा प्रस्तुति के लिए तैयार किया था। इसमें भाग लेने वाले मर्मज्ञ अभिनेताओं के सुझावों को प्रसाद जी ने सहर्ष स्वीकार कर मूल नाटक 'चंद्रगुप्त' में कई तरह के परिवर्तन किए। इसकी रिहर्सलों में भी प्रसाद जी निरंतर मौजूद रहते थे। किन्तु जब हम 'अभिनय चंद्रगुप्त' पर निगाह डालते हुए मूल नाटक से उसकी तुलना करते हैं तो पाते हैं कि इन संसाधनों ने वास्तव में नाटक की रंगमंचीयता में कोई विशेष वृद्धि नहीं की है बल्कि इसमें पारसी रंगमंच की पद्धति पर कुछ हल्के-फुल्के दृश्य डाल दिए गए हैं जिनसे नाटक के मूल कथ्य की अर्थान्विति में शिथिलता ही आई है। इस मंचीय संस्करण में किए गए भाषा संबंधी संशोधन भी बहुत सर्जनात्मक नहीं हो सके हैं। वस्तुतः यह रंगमंचीय संस्करण को तैयार करने का पूरा विधान ही उस बड़े रचनाकार की मानसिक हलचल का परिचायक है जो अपने नाटकों को अभिनीत देखना चहता है।

वाजपेयी जी की प्रसाद की नाट्य समीक्षा का श्रेय इस बात में है कि वे प्रसाद की स्वतंत्र नाट्य प्रतिभा, उसकी अपनी विशेषताओं को जानने-समझने पर बल देते हैं। 1932 में ही उन्होंने कहा- 'प्रसाद जी के ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, रोमांटिक नाटकों की अपनी सुस्पष्ट विशेषताएँ हैं, जिनकी अवहेलना नहीं की जा सकती। उनकी स्वतंत्र नाट्यकला का अध्ययन कर राय का इब्सन की विशेषताओं को उनमें ढूँढना नादानी होगी।' (जयशंकर प्रसाद, पृ. 93)

प्रसाद ने नाट्य लेखन के साथ रंग-चिंतन भी किया था। प्रसाद की नाट्य चिंतन की जिन स्थापनाओं को हिन्दी के बहुत से आलोचक बहुत ले उड़े और यह कहने लगे कि प्रसाद जी तो नाटकों को रंगमंच की वस्तु ही नहीं मानते, उन स्थापनाओं की ओर वाजपेयीजी ने एक सजग आलोचक की दृष्टि से ध्यान दिया। 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध' में संकलित प्रसाद के नाटक और रंगमंच संबंधी पारंपरिक और समकालीन विवेचन के मर्म को वाजपेयी जी ने न केवल पहचाना बल्कि हिन्दी के नए नाटकों के लिए स्वतंत्र रंगमंच की स्थापना की माँग की।

वाजपेयी जी के द्वारा प्रसाद के नाटकों के संबंध में एक और बहुत महत्वपूर्ण कार्य हुआ वह यह कि प्रसाद के नाटकों का प्रतिबद्ध होकर अतार्किक रूप से विरोध करने वाले दो महापुरुषों की उन्होंने तत्काल ही अच्छी तरह ख़बर ली। 'स्कंदगुप्त' का प्रकाशन सन् 1928 में हुआ था और 'चंद्रगुप्त' का सन् 1931 में। थोड़े ही दिन बाद कृष्णानंद गुप्त नामक सज्जन ने अपनी पुस्तक 'प्रसाद के दो नाटक' प्रकाशित कराई गंगा-पुस्तकमाला लखनऊ से। इस पुस्तक में लगभग सवा सौ पृष्ठों में 'चंद्रगुप्त' की समीक्षा दी गई और एक छोटी सी समीक्षा 'स्कंदगुप्त' की। साथ में एक 15 पृष्ठ की भूमिका भी दी गई। पुस्तक में प्रसाद के नाटकों की सोद्देश्य भर्त्सना की दृष्टि साफ़ झलकती थी। वाजपेयी जी ने 1932 में ही ''स्वतंत्र नाट्यकला का आभास'' शीर्षक लेख लिखकर गुप्त जी की दृष्टि में निहित

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

भारतीय नाट्य साहित्य के इतिहास में प्रसाद ने नया अध्याय जोड़ा, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। परंपरा के साथ-साथ नवीन जीवन स्थितियों का प्रयोग कर उन्होंने नाट्य साहित्य को नवीन मार्ग सुझाया, जिसके लिए हिन्दी साहित्य उनका चिर ऋणी रहेगा।'

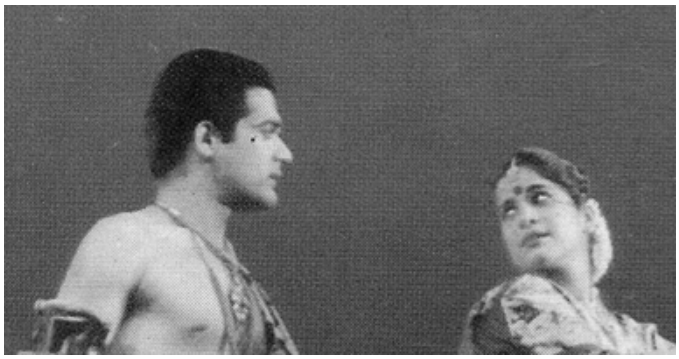

वैमनस्य और भ्रामक दृष्टिकोण का खुलासा करते हुए उत्तर दिया- 'कृष्णानंद जी ने जिस काल्पनिक प्रक्रिया से 'चंद्रगुप्त' का अभिनय देखा है, वह नाटकीय समीक्षा के साथ न्याय करने की दृष्टि से बहुत अवास्तविक हो गया है। ...कृष्णानंद जी की समीक्षा का दूसरा मुख्य आधार है- 'इब्सेनियन रंगमंच, अभिव्यक्ति शैली और इब्सेनियन बुद्धिवाद' इन मापदंडों को लेकर वे प्रसाद जी नापने चले हैं। यह स्पष्टतः एक अनौचित्य ही नहीं सरासर अन्याय भी है। प्रसाद जी की परीक्षा उनकी अपनी अभिव्यक्ति शैली, नाटकीय विन्यास और कला के आधार पर ही की जा सकती है। ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी न तो इब्सन की यथार्थवादी अभिव्यक्ति और न उनके बुद्धिवाद को ग्रहण करने को तैयार थी। ...इब्सन के अतिरिक्त भी नाटक और नाट्यकला है, भिन्न नाटकीय तकनीक और अभिव्यक्तियाँ हैं, उनकी अपनी विशेषताएं हैं, उनका अध्ययन उन्हीं के अनुकूल होना चाहिए इतना भी विचार कृष्णानंद जी ने अपनी समीक्षा मे नहीं रखा।' (जयशंकर प्रसाद, पृ. 90-97)

यहाँ वाजपेयी जी की तीन बातों पर ध्यान दिया जाना नितांत आवश्यक है। पहली तो ये कि यथार्थवादी रंग-दृष्टि से प्रसाद के नाटकों का मूल्यांकन अनुचित और सरासर अन्यायपूर्ण है। दूसरी यह कि प्रसाद के नाटकों के मूल्यांकन के मानदंड स्वयं उनकी अपनी नाट्यकला के भीतर से तलाशे जाने चाहिए। पश्चिम में 'नयी समीक्षा' की बुनियादी माँग है कि रचना की आलोचना बाहरी आरोपित मानदंडों से न करके रचना के भीतर निहित मानदंडों से होनी चाहिए। तीसरी बात जिस पर वाजपेयी जी ज़ोर देते हैं कि आयातित और आरोपित यथार्थ किसी भाषा और साहित्य का यथार्थ नहीं हो सकता। जिन परिस्थितियों में पश्चिम में बुद्धिवाद और यथार्थवादी रंगमंच का उदय हुआ था ऐतिहासिक दृष्टि से वे भारतीय जीवन और समाज की स्थितियाँ थीं। इसलिए हिन्दी भाषा या भारतीय भाषाएँ उस ढंग के नाटकों के लिए तैयार नहीं थीं। इब्सन के अलावा भी नाटक की दुनिया है, नाट्यकला है, तकनीकें हैं। यह बात वे 1932 में बता रहे थे। और उनकी यह बात बहुत महत्वपूर्ण थी जिस पर लंबे समय तक हिन्दी नाट्यालोचना ने ध्यान ही नहीं दिया। यदि ध्यान दिया होता तो प्रसाद के नाटकों में 'अभिनयोचित चांचल्य के अभाव', 'गीतों की बहुलता' आदि का नाम लेकर उन्हें रंगमंच से दूर की चीज़ न घोषित किया जाता रहता।

प्रसाद जी के समकालीन नाट्यकार लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अपने को समस्या नाटककार के रूप में स्थापित करते हुए यथार्थवाद और बुद्धिवाद की दुंदुभी बजाई और प्रसाद के नाटकों पर हमलावरी ढंग से बयान दर्ज किए। हालाँकि हिन्दी के अधिकांश संवेदनशील पाठक स्वयं मिश्र जी के नाटकों का हश्र देते हुए उनके विषय में अपनी राय क़ायम कर चुके हैं फिर भी वह ध्यान रखने की बात है कि सन् 39-40 में छपी अपनी पुस्तक 'जयशंकर प्रसाद' में वाजपेयी जी ने मिश्र जी की गर्वोक्तियों और कटाक्षों की ओर हिन्दी पाठकों का ध्यान दिलाते हुए लिखा- 'प्रसाद के कुछ आधुनिक समीक्षकों ने उनके नाटकों की त्रुटियाँ खोजने में बड़ा परिश्रम किया है। ...इन समीक्षकों में लक्ष्मीनारायण मिश्र की समीक्षा इसलिए विशेष महत्व रखती है कि वह एक नाटककार के संबंध में दूसरे विशिष्ट नाटककार की धारणाओं को व्यक्त करती है।

मिश्र जी ने प्रसाद पर कुछ आक्षेप किए हैं। अपने तर्कों के आधार पर मिश्र जी ने निष्कर्ष निकाला कि प्रसाद के नाटक पूर्णतया अभारतीय हैं और उनके समीक्षकों द्वारा दिए गए भारतीय संस्कृति के उन्नायक के गौरव-पद के वे अयोग्य हैं। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाए तो ये चारों आक्षेप वस्तुतः एक ही ओर संकेत करते हैं और प्रसाद के नाटकों पर अभारतीय परंपरा एवं अभारतीय आदर्शों का लांछन लगाते हैं। ...मिश्र जी कला संबंधी भारतीय धारणा को भी एक स्थिर वस्तु मानते हैं...यदि भारत में भी प्राचीन शैली को छोड़कर नई नाट्य शैली अपनाने की चेष्टा प्रसाद जी ने की, तो हमें देखना होगा कि वे परिवर्तनशील आदर्श कौन से थे जिन्होंने उन्हें एक नई व्यवस्था की ओर अग्रसर किया। उन आदर्शों की भूमिका पर हमें प्रसाद के नाटकों की विवेचना करनी होगी। एक ही पिष्टपोषित मार्ग पर चलते-चलते साहित्य निर्जीव हो जाता है जब उस पर नए प्रभाव पड़ते हैं तब वह अपना रूप बदलते है। प्रसाद के नाटक एक विकासमान कड़ी के रूप में नाट्य साहित्य के इतिहास में जुड़े दिखाई देते हैं, न कि परंपरा को आमूल नष्ट कर क्रांति के रूप में।

भारतीय नाट्य साहित्य के इतिहास में प्रसाद ने नया अध्याय जोड़ा, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। परंपरा के साथ-साथ नवीन जीवन स्थितियों का प्रयोग कर उन्होंने नाट्य साहित्य को नवीन मार्ग सुझाया, जिसके लिए हिन्दी साहित्य उनका चिर ऋणी रहेगा।' (जयशंकर प्रसाद, पृ. 132-135)

इस तरह हम देखते हैं कि वाजपेयी जी ने लक्ष्मीनारायण मिश्र के आक्रामक प्रहारों का तार्किक उत्तर देते हुए कहा कि भारतीय संस्कृति की परिवर्तनशीलता ही उसकी विशेषता है- 'वह विदेशी तत्वों को शीघ्र ही अपने में समाहित कर लेती है। किसी एक विशेष जीवन-व्यवस्था को हम भारतीय संस्कृति नहीं कह सकते।' (जयशंकर प्रसाद, पृ. 133)

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

प्रसाद के नाटकों की कुछ सीमाओं की ओर भी वाजपेयी जी ध्यान दिलाते हैं- 'नाटक में व्यापार-संकलन प्रधान कार्य है। ऐतिहासिक नाटकों में समय, स्थान और कार्य संकलन का ध्यान बराबर रखना पड़ता है, परन्तु प्रसाद जी के नाटकों में सर्वत्र ऐसी बात नहीं है। उनके नाटकों में औपन्यासिक गुण अधिक है। नाटक में अनेक स्थान होने से प्रभाव बिखर जाता है।' (जयशंकर प्रसाद, पृ. 116)

प्रसाद इन नाटकों के बहाने हमारा परंपरा से संवाद कराने का प्रयास कर रहे थे। अतीत में, स्मृतियों में झाँक कर वर्तमान के लिए मूल्यवान धरोहर की थाह ले रहे थे इस बात को आज समझने की ज़रूरत है। इन नाटकों के जो अर्थ दब गए हैं या सत्ता प्रतिष्ठान के वर्चस्व के चलते दबा दिए गए हैं उनको उभारने की, उनका नया भाष्य करने की ज़रूरत है।

अन्विति-क्रम अथवा संकलन-त्रय की पश्चिमी अवधारणा वाजपेयी जी की समीक्षा दृष्टि पर पूरी तरह हावी होने के कारण वे प्रसाद के नाटकों में इसकी अपेक्षा करते हैं। ऐसा करते समय न तो शेक्सपियर के नाटक उनके ध्यान में हैं, न ही प्राचीन भारतीय नाटक। 'प्रसाद के कुछ प्रमुख नाटक' नामक निबंध में इन नाटकों की व्यावहारिक समीक्षा है जिसमें प्रसाद की नाट्यकला के विकास की रेखाओं का ग्राफ प्रस्तुत किया गया है। आरंभिक नाटकों की तुलना में बाद के नाटकों के गठन और सौष्ठव का भी विवेचन है। 'स्कंदगुप्त' जैसे नाटक में जहाँ गतिशीलता और आद्यंत संघर्ष को सराहा गया है वहीं रचना विधान दुखांत से सुखांत की ओर पहुँचा कर भारतीय पश्चिमी नाट्य दृष्टि के समन्वय को वस्तु-विन्यास संबंधी त्रुटि माना गया है। हालांकि यह भी स्वीकारा गया है कि चरित्र निर्माण और नाट्योपयोगी विशेषताओं की दृष्टि से 'स्कंदगुप्त', 'चंद्रगुप्त' से ज़्यादा सुंदर नाटक है। जयशंकर प्रसाद (पृ. 124)

वाजपेयी जी की विशेषता है कि वे हिन्दी नाटक में प्रसाद के मौलिक योगदान को पहचानते हैं और उसके विभिन्न पक्षों की ओर एक-एक करके ध्यान दिलाते हैं। वे रेखांकित करते हैं कि किस तरह प्रसाद के आरंभिक नाटक परंपरागत भारतीय नाट्य-पद्धति से प्रभावित हैं। उनमें इतिहास के साथ-साथ पौराणिक आख्यानों के प्रति रुचि भी दिखाई देती है और गद्य-पद्य की रुढ़ि का पालन भी। अगले दौर के नाटकों में द्विजेंद्र लाल राय एवं पश्चिमी नाट्य परंपरा के प्रभाव स्वरूप बहिर्द्वंद्व और अंतर्द्वंद्व को महत्व दिया गया है, स्वच्छंदतावादी सौंदर्य-चित्रण है और देश-प्रेम तथा राष्ट्रीय भावना के उद्बोधन का प्रयास है। लेकिन ये सभी प्रभाव प्रसाद के अपने व्यक्तित्व की स्वाभाविक अभिव्यक्ति के रूप में तथा मौलिक चिंतन के परिणाम के रूप में व्यक्त हुए हैं। बहुत महत्वपूर्ण टिप्पणी करते हुए वाजपेयी जी कहते हैं- 'नाटकीय पात्रों में व्यक्तित्व स्थापन या चरित्र-निरूपण का यह प्रयत्न हिन्दी नाटकों के विकास की एक ऐसी कड़ी है, जो प्रसाद को असाधारण महत्व प्रदान करती है।' (जयशंकर प्रसाद, पृ. 130).

अपनी आलोचना के माध्यम से वाजपेयी जी ने प्रसाद के नाटकों की राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक चेतना की ओर पाठकों का ध्यान दिलाया और इस बात की ओर भी स्पष्ट संकेत किया कि प्रसाद के लिए संस्कृति कोई स्थिर अथवा रूढ़िबद्ध चेतना नहीं है जो हर पुरानी चीज़ को श्रेष्ठ सिद्ध करती हो। उन्होंने लिखा है कि प्रसाद ने 'संस्कृति के नाम पर परंपरा का गुणगान अंधश्रद्धा से नहीं किया। सभी स्थलों पर उसे ऐतिहासिक आधार पर स्थापित करके ही स्वीकार किया है। उनके 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में विवाह-विच्छेद पर उनका दृष्टिकोण उन्हें स्पष्ट रूप से संस्कृति का सजग दृष्टा घोषित करता है।' (जयशंकर प्रसाद, 130)

प्रसाद के ऐतिहासिक अध्ययन की ओर भी वाजपेयी जी हमारा ध्यान दिलाते हुए लिखते हैं कि इतिहास की विवादास्पद समस्याओं को सुलझाने का उनका प्रयास सराहनीय रहा है। (वही, पृ. 131) जब वे कहते हैं कि इस विषय में प्रसाद ने 'अपने समकालीन लेखकों को पीछे छोड़ दिया 'तो यह कोई अतिश्योक्ति नहीं है। कोई भी सजग पाठक स्वयं इसकी पड़ताल कर सकता है।

प्रसाद के नाटकों की आलोचना के संदर्भ में नंददुलारे वाजपेयी जी का सबसे बड़ा योगदान यह है कि उन्होंने इन नाटकों को आधुनिक भारतीय नवजागरण के संदर्भ में देखा-परखा इसलिए वे इनके सर्जनात्मक सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य को आँक सके। उस समय में जब प्रेमचंद जैसे जागरूक प्रगतिशील लेखक और प्रसाद के मित्र तक इतिहास के अवगाहन द्वारा वर्तमान के निर्माण के प्रसाद के उद्देश्य को समझ ही नहीं पा रहे थे और कह रहे थे कि इतिहास में गड़े मुर्दे उखाड़ने में मेरी कोई रुचि नहीं क्योंकि आज की वर्तमान जीवन के प्रश्न और समस्याएँ मेरे लिए ज्यादा महत्वपूर्ण हैं- तब वाजपेयी जी प्रसाद की 'सांस्कृतिक उत्कर्ष साधना' के महत्व को हिन्दी आलोचना में स्थापित करने में भरसक प्रयत्नशील थे। परवर्ती हिन्दी नाट्य-आलोचना ने काफ़ी समय तक इस दृष्टि को ही अपने चिंतन से दूर रखा। परिणाम यह हुआ कि लंबे समय तक आलोचक और नाट्य निर्देशक इसी में उलझे रहे कि इन नाटकों की अभिनेयता में किस-किस तरह की समस्याएं आएँगी। शुक्ल जी और नंददुलारे वाजपेयी जी द्वारा दी गई दिशा का सकारात्मक और रचनाशील उपयोग करने में हिन्दी नाट्य समीक्षा लंबे समय तक निष्क्रिय रही।

आज हमें अपनी इस भूल को सुधारने की ज़रूरत है। प्रसाद के नाटकों पर विमर्श करने की ज़रूरत है, सरल कठिन भाषा के प्रश्न में उलझे रहने की बजाए उस भाषा की अर्थमीमांसा करने की ज़रूरत है। इसके अर्थ की कई परते हैं जिन्हें खोलने की ज़रूरत है। प्रसाद की रचनाओं की sementics में जानने की ज़रूरत है। राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम के समय में ये नाटक जातीय अस्मिता को जाग्रत कर रहे थे। प्रसाद इन नाटकों के बहाने हमारा परंपरा से संवाद कराने का प्रयास कर रहे थे। अतीत में, स्मृतियों में झाँक कर वर्तमान के लिए मूल्यवान धरोहर की थाह ले रहे थे। इस बात को आज समझने की ज़रूरत है। इन नाटकों के जो अर्थ दब गए हैं या सत्ता प्रतिष्ठान के वर्चस्व के चलते दबा दिए गए हैं उनको उभारने की, उनका नया भाष्य (discourse) करने की ज़रूरत है। अर्थ काल के गर्त में खोया हुआ है, सोया हुआ है आपको उसे जगाना है। हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में कहें तो 'शव साधना' करनी है ताकि अर्थ से, परंपरा से संवाद स्थापित किया जा सके।

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

कलाओं के स्वर्ण समय में कालिदास की कृतियाँ

मनोहर वर्मा

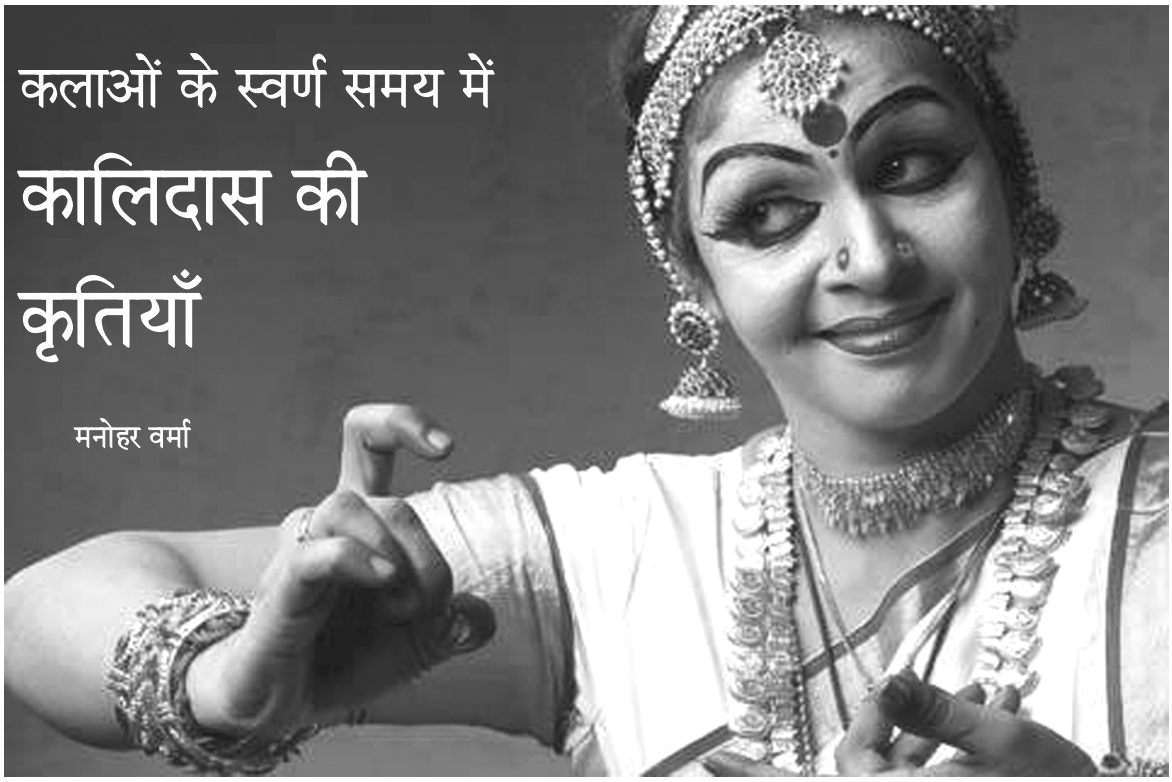

कलाओं के उत्कर्ष की दृष्टि से कालिदास का समय स्वर्णयुग कहा गया है। यह समय सांस्कृतिक उत्थान और आर्थिक समृद्धि की दृष्टि से भी ऐतिहासिक महत्व रखता है।

गुप्तकाल के लगभग चार सौ वर्ष पूर्व से किसी राजा द्वारा संस्कृत विद्या को प्रोत्साहन नहीं दिया गया था। दक्षिण में सातवाहन राजा यद्यपि वैदिक धर्म अनुयायी थे, किन्तु उनके सारे लेख प्राकृत भाषा में ही है। गुप्तकाल में संस्कृत भाषा और उससे जुड़े हुये समस्त शास्त्रों और अंगों का पुनरुत्थान हुआ। भरत के नाट्य शास्त्र में संगीत, नृत्य और नाटक में अन्योन्याश्रित संबंध दर्शाया गया है। कालिदास के समय में ये विविध रंग उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए थे।

कालिदास के पूर्व की रचनाओं में भी रंगमंच पर अभिनय के साथ नृत्य का उल्लेख है। नृत्य करती स्त्री की काँसे की मूर्ति का उल्लेख सिंधु सभ्यताकाल के इतिहास में भी है, जो सम्भवतः नृत्य कला संबंधी प्रथम प्राचीनतम प्रमाण है। उसके पश्चात् भी साहित्य और कला के इतिहास में नृत्य संबंधी अनेक विवरण उपलब्ध होते हैं। 'मालविकाग्निमित्र' के प्रथम अंक में महल की नाट्यशाला के दो आचार्यों-गणदास और हरदत्त में विदूषक की कलहप्रिय और कौतुकवृत्ति के कारण अपने-अपने ज्ञान और कलात्मक श्रेष्ठता को लेकर झगड़ा शुरु होता है। और वे दोनों राजा के पास निर्णय के लिये पहुँचते हैं। गणदास को रानी धारिणी का आश्रय प्राप्त होने से राजा स्वयं निर्णय से बचते हुये रानी के समक्ष पंडिता कौशिकी नामक परिव्राजिका को मध्यस्थ बनाये जाना प्रस्तावित करता है और परिव्राजिका कहती है 'जो स्वतः अत्यंत निपुण होकर दूसरों को सिखाने में भी निपुण होता है, वही श्रेष्ठ शिक्षक है। अतः तुम अपनी-अपनी शिष्याओं की परीक्षा दिलाओ और उनका अंगसौष्ठव स्पष्ट दीखता रहे, इसलिये पात्र नेपथ्य रहित रहे।'

राजा, रानी विदूषक और परिव्राजिका के सामने 'छलिक' नामक नाट्य प्रयोग होने वाला है। नृत्य की प्रतिस्पर्धा दासी मालविका (जो वस्तुतः विदर्भ की राजकुमारी है) और राजा अग्निमित्र की तरुण रानी इरावती के बीच होनी है। इसके पूर्व गणदास के एक संवाद में यह उल्लेख है कि उसने मालविका को 'पंचांग नृत्य' (पंचांगाभिनय) की शिक्षा दी है। 'छलिक' उस प्रकार का नृत्य है, जिसमें दूसरे के रूप का अनुकरण करता हुआ अपने अन्तर्भावों का व्यक्तिकरण करता है। 'छलिक' का आधार चतुष्पद या चार पद वाला गीत था और वह प्रयोग में आने वाले नृत्य में सबसे कठिन समझा जाता था। यह उल्लेख भी नाटक में ही है। परिव्राजिका के संबंध में नृत्य कला की व्याख्या करते हुये उसके प्रयोगपक्ष के महत्व को दर्शाया गया है। वह कहती है- नर्तन कला मुख्यतः व्यावहारिक प्रयोग में ही निहित है। वह स्पष्टतया सिद्ध कर देती है कि नृत्य कला नाट्यकला की संगिनी थी और यही कारण है कि कालिदास दोनों को इस प्रकार व्यक्त करते हैं मानो वे दोनों अभिन्न कला हों। कालिदास की अन्य कृतियों में भी नृत्य के संदर्भ में अनेक बार 'प्रयोग' शब्द

भरत के नाट्य शास्त्र में संगीत, नृत्य और नाटक में अन्योन्याश्रित संबंध दर्शाया गया है। कालिदास के समय में ये विविध रंग उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए थे।

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

का उपयोग हुआ है। (प्रयोग, प्रयोग प्रधान, प्रयोग सिद्धि, शास्त्रे प्रयोग च, प्रयोग विज्ञानम्, प्रयोगेण, प्रयोगमाद्यम्, प्रयोग निपुणैः, प्रयोक्तृभिः आदि)। पंडिता कौशिकी की परिचारिका और उद्यान-पालिका के संभाषण में यह सूचना मिलती है कि इरावती के नाट्य-प्रयोग देखने पर (जो रंगमंच पर प्रस्तुत नहीं होते और कालिदास ने अनावश्यक समझकर उसे सूच्य रूप में प्रस्तुत किया है) परिव्राजिका ने निर्णय लिया कि दोनों आचार्य अपनी कला में बराबर निपुण हैं, किन्तु गणदास को उत्तम शिष्या मिलने के कारण उसकी जीत हो गई है।

कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' और 'रघुवंश' में भी नृत्य कला संबंधी अनेक संदर्भ हैं। विक्रमोर्वशीय की नायिका उर्वशी अप्सरा है, नृत्यविद्या में पारंगत है और नाटक में इन्द्रसभा में सरस्वती रचित 'लक्ष्मी-स्वयंवर' नामक नाटक की प्रस्तुति में लक्ष्मी की भूमिका अभिनीत करती है। नाटक में भरतमुनि भी उपस्थित हैं और वारुणी का अभिनय कर रही मेनका अप्सरा द्वारा स्वयंवर-दृश्य में किये गये एक प्रश्न के उत्तर में, 'पुरुषोत्तम' के स्थान पर (प्रेमवश) 'पुरुरवा' का नाम ले लेती है और भरतमुनि द्वारा शापित होती है। 'मत्स्यपुराण' की कथा में भी जहाँ से कवि ने स्वयंवर-प्रसंग की प्रेरणा ली है, लक्ष्मीवेश धारिणी उर्वशी का नृत्य और भरत के सिखाये अभिनय को भूल जाने का उल्लेख है। रघुवंश में नृत्य रसिक राजा अग्निवर्ण का उल्लेख है, जो नर्तकी के नृत्य करते समय स्वयं मृदंग बजाकर ताल देते थे। रघुवंश में लव-कुश के साभिनय गायन का उल्लेख है।

कालिदास की कृतियों में, प्राचीन भारत के चारों प्रकार के वाद्ययंत्रों (विशेषकर मृदंग वादन, वीणा वादन), गायन, नृत्य, अभिनय तथा मूर्च्छना, ध्वनि, वर्ण परिचय और गायन-वादन की पारिभाषिक संज्ञाएँ उनके ललित कला प्रवीण होने का प्रमाण देती हैं। उनके समय के भित्तिचित्रों, मूर्तियों और स्थापत्य के अलंकरणों में नर्तन करती स्त्रियों, नृत्य मुद्राओं, वाद्ययंत्रों गायन वादन के दृश्य और अभिनय दर्शाती आकृतियों की बहुलता यह दर्शाती है कि ललित कलाओं ने राजप्रासाद और जनसामान्य, सभी को गहरे रूप में प्रभावित किया था और तत्कालीन समाज में संगीत-नृत्य-नाट्य आदि कलाओं में सुदक्ष सुधी-जनों, रसिकों, पारखियों और कला-आस्वाद के मर्मी नागरिकों का एक पर्याप्त बड़ा और व्यापक वर्ग बन गया था।

'विक्रमोर्वशीय' के चतुर्थ अंक में आने वाले बहुसंख्यक प्राकृत-उद्धरण प्रशिप्त कहे गये हैं, किन्तु इनमें अनेक राग तथा लय और बेशुमार नृत्य-भंगिमाओं संबंधी रंगमंचीय निर्देश हैं। राग साधारण अर्थ में एक माधुर्य पूर्ण स्वर-सम्वाद है और लय, नृत्यगान और वाद्य का सामंजस्यपूर्ण समन्वय है। कालिदास ने अनेक प्रकार के सांगीतिक रागों और नृत्य का उल्लेख किया है जो भरत के नाट्य शास्त्र में मिलते हैं। द्विपदी, जो गान का एक विशेष प्रकार है, भारतीय बारीक़ विश्लेषण में जाने वाली मेधा के अनुरूप चार भेदों में लक्षित है- शुद्धा, खण्डा, मात्रा और सम्पूर्णा। जन्मालिका एक अन्य प्रकार का गीत है, जिसका प्रत्येक पद एक या दो बार गाया जाता है और कोरस तथा दूसरे चरण के बीच कोई प्रतिबंध नहीं होता। चर्चरी और भिन्नक रागों का भी उल्लेख है जो क्रमशः प्रेमभाव और विशिष्ट भाव-प्रदर्शन के लिये नियत है। खुरक एक विशिष्ट नृत्य है। कुटिलिका और मल्लघटी भी नृत्य के प्रकार हैं, जिनमें पहली राग की सहायता के बिना ही, किन्तु एक विशिष्ट अंग-स्थिति तथा अर्धमत्तली नामक भावप्रदर्शन के साथ नर्तित होती है। गलितक भी एक अन्य प्रकार का नृत्य और भाव प्रदर्शन है इसके अतिरिक्त चतुरस्रक, अर्ध-चतुरस्रक स्थानक और वासक के सदृश असंख्य नृत्य की अंगस्थितियों तथा नाटक के भाव प्रदर्शनों का उल्लेख है। घुटनों पर उत्पतन नर्तक-क्रिया या करतलबद्धतापूर्वक अभिनय का भी समावेश स्पष्ट है।

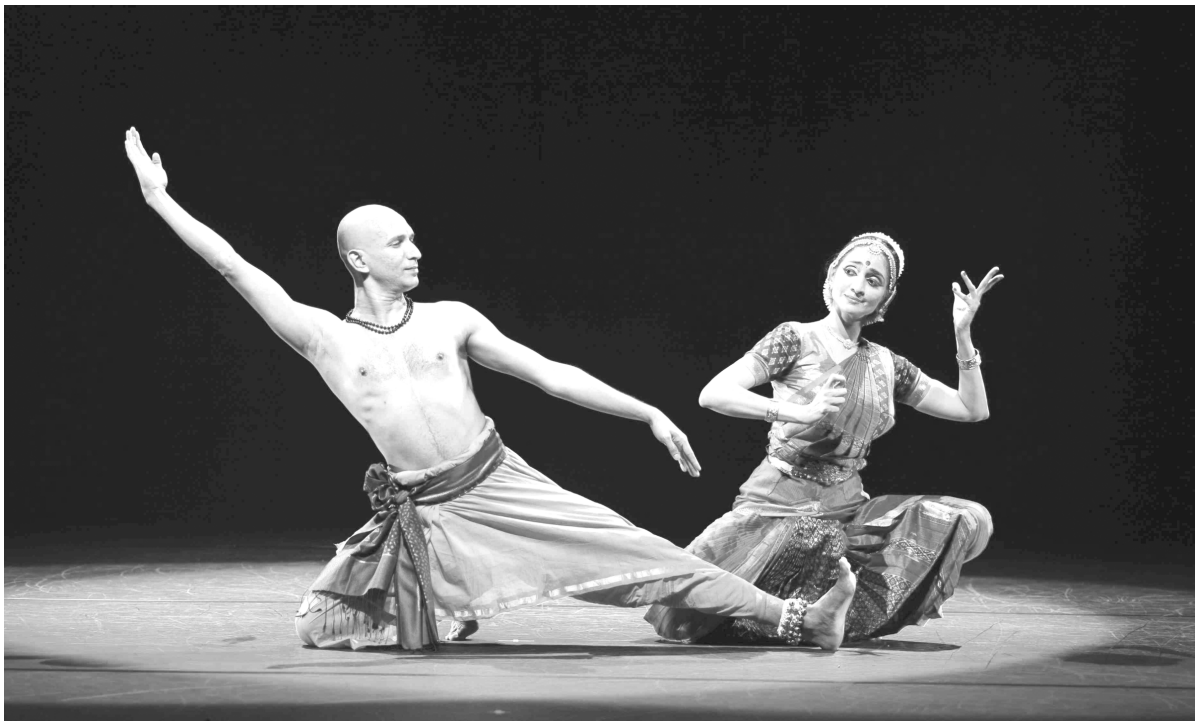

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

'अलखनंदन बहुत गहरे भावुक इंसान थे। वे जितना जीवन और उसके संबंधों को प्यार करते थे, उतना उसके सिद्धांतों को नहीं। जीवन-संबंध उनके लिए हमेशा सबसे ऊपर रहा आया। शायद यही कारण है कि उन्होंने रंगमंच को अपनी जीवन-साधना के लिए चुना। यहाँ जीवन-संबंधों का खूबसूरत, रंगीन किन्तु बेहद जटिल व्यापार दिखाई देता है। किताबें तब बेमानी सी लगने लगती हैं और प्रत्येक अस्तित्व सद-असद, पाप-पुण्य से ऊपर उठकर हमारे लिए एक चुनौती भरा सच या कला का यथार्थ बन जाता है। रंगमंच पर उतारा गया जीवन एक जीता-जागता साक्षात् उपन्यास ही तो है।'.... *अलखनंदन की पहली पुण्यतिथि पर उनके रंग अवदान को याद करते हुये पूर्व में की गई अंतरंग बातचीत।*

अपने अभिनेता को बचाए रखा

''मैं अपने भीतर के अभिनेता को बचाए रखता हूँ ताकि मैं उन्हें अभिनय का संस्कार दे सकूँ। अगर मैं अपने अभिनेता को नाच-गाकर न दिखा सकूं, स्वयं अभिनय करके न दिखा सकूँ, तो मेरा अभिनेता क्या सीखेगा? इसलिए मैं दोनों नावों पर पाँव रखकर चलता हूँ।''

अलखनंदन से सात सवाल

आपकी रंगयात्रा कब और कैसे आरंभ हुई?

अलखनंदन : जब अभिनय और रंगमंच में काम करते हुए मैंने कई उस्तादों को पढ़ा और देखा तो यह पाया कि मनुष्य स्वभाव से नकलची होता है, हर चीज़ की मिमिक्री करता है, उसने पक्षी का अभिनय किया और हवाई जहाज बनाया। मैं एक ऐसे घर में पैदा हुआ जहाँ बरसों से कोई सन्तान नहीं थी, केवल दो ही भाई-बहन थे। मैं बहुत लाड़ला था और बहुत ऊधमी था। मेरे नाना बहुत बड़े ज़मींदार थे। बहुत शौकीन आदमी थे, कुछ न कुछ आयोजन गाँव में करते ही रहते थे। मेरे नाना की इतनी बड़ी लायब्रेरी थी 'गांधी लायब्रेरी' जिससे पूरा गांव किताबें लेकर पढ़ता था। चमरटोली छोड़कर गाँव में कोई निरक्षर नहीं था। चमरटोली के युवा लड़के भी अक्षर ज्ञान कर चुके थे। मेरे नाना की वजह से यहाँ बिदेसिया होता था। वो एक नाच होता था, जिसे लौंडा नाच कहते थे। इसमें लड़के नाचते थे। उन्हें देखकर लड़कियाँ ईर्ष्या करती थीं, वे बहुत अच्छा नाचते थे और बहुत सुंदर लगते थे। उन्हें देखकर ऐसा लगता था, बिल्कुल ऐसा ही दिखना चाहिए। इन सबके बाद मेरा 'शो' होता था। घर में कोई शादी होती तो मैं सजकर बाहर तखत पर बैठ जाता। सारे घर में हंगामा होता कि कौन लड़की आ गई। बाहर दालान में कैसे बैठी है, नाना का तख्त था। बाद में पता चलता कि वह मैं था, सोना। घर में मुझे सोना कहते थे। कभी महंत बनकर बैठता, बड़ी-सी बटलोही पेट पर बांध ली, बड़ा-सा टीका लगा लिया, बैठे हैं तखत पर। आते-जाते लोग देख रहे हैं- बाबू के घर कौन महंत आया है। बाद में पता चलता वह सोना था।

इस तरह से मैं मानता हूँ कि मेरी रंगयात्रा शुरू हो गई, नकल करने की। बिदेसिया नाच, शादियों में जो नाच होता था उसमें कुछ न कुछ प्रहसन भी होता था, वो सब चीज़ें मुझे प्रेरित करती थीं। मेरे पिता नौकरी में म.प्र. आ गए। मैं जिस इलाके में रहा वहाँ बंगाली बहुत ज़्यादा थे। डिफेन्स कॉलोनी थी। बहुत से लोग यहाँ-वहाँ से ट्रांसफर होकर आए थे। एक प्रकार से कॉस्मिक पालिटिन कॉलोनी थी। वहाँ दक्षिण

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

के लोग बहुत थे, बंगाल के थे, बिहार के थे, उ.प्र. के थे, तो एक प्रकार से वहाँ 'मिक्स' कल्चर' था। वहां एक 'देवेन्द्र बंगाली क्लब' था, जो हमेशा दुर्गापूजा के समय नाटक किया करता था। मेरे आस-पड़ोस के लोग मुझ पर नज़र रखते थे, जिस तरह की हरकतें मैं करता था। हमारे पड़ोसी थे मि. एल.एन. गांगुली। वे बहुत अच्छा अभिनय करते थे। नाटकों में बहुत अच्छा बोलते थे। मैंने बोलना उनसे सीखा। मुझे शांत करने के लिए वे मुझे तीन-चार घंटे अपने साथ रखते थे। पिताजी भी कहते- ले जाओ कम से कम तीन-चार घंटे व्यस्त रहेगा। आठ-नौ साल की उम्र में मैंने बंगला नाटकों में काम करना शुरू कर दिया। इस प्रकार मेरी औपचारिक रंगयात्रा शुरू हुई। एल.एन. गांगुली को जिन्हें हम 'नारु काकू' कहते थे, स्कूल में पढ़ते-पढ़ते मैं नारु काकू के पास जाकर ड्रामा करता था। स्कूल में मैंने कभी अभिनय नहीं किया। मुझे मौका ही नहीं दिया गया, क्योंकि मैं बहुत ऊधमी था। हिन्दी नाटक के लोगों से परिचय हुआ, फिर वहां से मेरी हिन्दी रंगयात्रा शुरू हुई।

आप पहले सरकारी नौकरी में थे। फिर आपने नौकरी छोड़कर रंगमंच में आने के विषय में कैसे विचार किया?

अलखनंदन : रंगमंच तो सरकारी नौकरी में आने से पहले ही शुरू हुआ। मेरे घर में पहले से ही पता था कि मैं नौकरी नहीं करने वाला हूँ। मैंने एक नौकरी नहीं की, मैंने कई तरह की नौकरियाँ की हैं यही एक महत्वपूर्ण चीज़ है जो आज नाटक में मेरा साथ देती है। मैंने डांस नहीं सीखा, मैं अपने शहर का बहुत अच्छा फुटबॉलर था। मैंने बीस साल तक फुटबॉल खेला है। रोज तीन-चार घंटे और इतवार को पूरा दिन। मेरे मामा संसद सदस्य हो गये तो उन्होंने मुझे दिल्ली बुला लिया अपने पास। पैसे का हिसाब करने, घर की देख-रेख करने। इसे आप मेरी पहली नौकरी मान सकते हैं। फिर मामा ने मुझे पत्रकारिता में ट्रेंड करवाया। 'जन' नाम की पत्रिका थी। Mankind नाम की पत्रिका थी। कुछ-कुछ काम सीखा। पिताजी की इच्छा थी कि जबलपुर में रहना चाहिए। अब देखिये कहानी कैसी उल्टी है। मामा चाहते थे कि मैं राजनीतिज्ञ बनूं क्योंकि रास्ता बिल्कुल साफ़ था। साहित्य और राजनीति के बीच चलते-चलते पत्रकारिता में टिक गया। फिर अचानक थियेटर से सामना हुआ। थियेटर था संस्कार में। एक ऐसी अंतःप्रेरणा मिली कि रंगमंच वह जगह है जिसको मैं सिद्ध करूंगा। जो मैं खेलूंगा तो जनता मेरे सामने होगी। इस तरह पत्रकारिता करते-करते रंगमंच के समीप आ गया। इसका श्रेय जाता है ज्ञानरंजन जी को। वे सिद्ध कहानीकार हैं हिन्दी के। मैंने उनसे कहा कि मैं नाटक करना चाहता हूँ, कुछ बातचीत की। उनको मैं अच्छा लगा। बहुत पढ़ा-लिखा हूँ। तो उन्होंने कहा कि हाँ, हमारे यहाँ नाटक की ही कमी है। जबलपुर में अच्छा नाटक नहीं होता। हरिशंकर परसाई जी से बात हुई तो परसाई जी ने एक संस्था बहुत पहले बनाई थी 'विवेचना'। उसका काम था गोष्ठी वगैरह करना तो उन्होंने कहा कि तुम इस 'विवेचना' को ले लो और इसे नाटक का मंच बना लो, तो नाटक वहाँ से शुरू हो गया। इस बीच छिट-पुट नौकरियाँ चलती थीं पर वे बहुत तंग करती थीं क्योंकि नौकरी का अपना वज़न होता है। मैंने एम.ए. साहित्य में किया, फिर मैंने पिताजी के दबाव में पी.जी. डिप्लोमा पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन में किया। क्योंकि पिताजी चाहते थे कि अफसर बनूँ और इस बीच डिप्लोमा करते-करते मैं काफी नाटक करने लग गया था। तो मैं सोचता था कि यदि मैंने पी.एस.सी. पास कर लिया तो डिप्टी कलेक्टर हो जाऊँगा। यू.पी.एस.सी. पास कर लिया तो कलेक्टर बन जाऊँगा, तो नाटक का क्या होगा। जैसे-जैसे बड़ी पोस्ट पर जाऊँगा वैसे-वैसे घिरता जाऊँगा काम से। तो बहुत विचित्र निर्णय था मेरा। लोग हँसे, मित्र हँसे। आज भी मेरे कई मित्र बड़े-बड़े अफसर हैं। जब मैंने तय किया तो मैंने पिताजी से कहा कि आप डिफेंस एकाउंट्स में नौकरी करते हैं, मुझे वहाँ लगवा दीजिए हमने कहा 10 से 5 की नौकरी होती है और बहुत आराम होता है। मैं मैनेज कर लूँगा रिहर्सल के लिए। तो उन्होंने कहा कि तू रिहर्सल नहीं छोड़ेगा.... पूरे मोहल्ले वाले कहते थे कि ये पागल हो गया है, ये ऑडिटर बनना चाहता है। और मैं लोगों को कनविंस करता था कि मैं दस से पाँच नौकरी करूँ, रात को रिहर्सल करूँ और कोई टेन्शन भी नहीं। सबेरे नौ बजे भी सोकर उठे तो तैयार होकर दस बजे

शुक्रिया अलख!

अलखनंदन बहुत गहरे भावुक इंसान थे। वे जितना जीवन और उसके संबंधों को प्यार करते थे, उतना उसके सिद्धांतों को नहीं। जीवन-संबंध उनके लिए हमेशा सबसे ऊपर रहा आया। शायद यही कारण है कि उन्होंने रंगमंच को अपनी जीवन-साधना के लिए चुना। यहाँ जीवन-संबंधों का खूबसूरत, रंगीन किन्तु बेहद जटिल व्यापार दिखाई देता है। किताबें तब बेमानी सी लगने लगती हैं और प्रत्येक अस्तित्व सद-असद, पाप-पुण्य से ऊपर उठकर हमारे लिए एक चुनौती भरा सच या कला का यथार्थ बन जाता है। रंगमंच पर उतारा गया जीवन एक जीता-जागता साक्षात् उपन्यास ही तो है। अलख ने ऐसे ढेरों उपन्यास रचे हैं जिन्हें केवल हम लेखकों और उनके खास मित्रों ने नहीं पूरे लोक ने बार-बार देखा। वे इस रूप में एक लोक-सर्जक रहे जो अपने दर्शकों को जीने की कला ही नहीं, जीने के रहस्यों से भी परिचित कराते हैं। किसी भी रंगनिर्देशक और रंगकर्मी के लिए यह गौरव की बात कही जा सकती है।

अलख ज्यादातर नए-पुराने के झगड़े में नहीं पड़ते थे। यह उनका मुहावरा नहीं है। विपरीत इसके वे अपने समय को कई-कई प्रस्तुतियों के बहाने समझने और रचने की बार-बार कोशिशें करते हैं। इससे अधिक एक सर्जक कुछ और कर भी क्या सकता है।

अलख मेरे दोस्त थे। मैं भी उनकी दोस्ती कबूल करता रहा हूँ पर हमारी दूरियाँ भी उतनी ही खूबसूरत रहीं। मैं अलख से पाखण्ड नहीं कर सकता, अलख तो सरापा दिल ही उनके उठने-बैठने, चलने-फिरने, पुकारने और संबोधन करने के अंदाज़ में एक अलखपन होता है। उनकी नाराज़गी भी नाराज़गी होती थी, नाराज़गी की राजनीति नहीं। उनका प्यार भी इसीलिए किसी राजनीति द्वारा प्रायोजित नहीं होता। उस सबमें वे साफ़-साफ़ दूर से दिखते चले जाते। मैं उनकी इसी अदा का कायल रहा।

वे अपना काम करते रहे उनके इस करने में एक अघोषित समर्पण था। वे भोपाल छोड़कर चले जाते तो शायद हमें कहीं और बड़े दिख रहे होते। वे भोपाल में ही रहे, यहीं रहना कबूल कर लिया तो भोपाल हमें, आज बड़ा दिखता है। हम भोपाल के लोग अलख के प्रति इसके लिए शुक्रगुज़ार हैं।

-विजय बहादुर सिंह

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

ऑफिस पहुँच गये तो वो मेरी आख़री नौकरी थी दस से पाँच वाली। एस.एस.बी. का एक्जाम दिया। पास हो गए और नौकरी हो गई। तो नौकरी करते हुए रंगमंच करना कोई समस्या नहीं थी। मैं नौकरी ऐसी चाहता था जो मुझे रंगमंच करने से न रोके। और डिफेंस एकाउंट्स की नौकरी में ऐसा था कि सालों-साल आपका ट्रांसफर नहीं होता। वहीं रहना है। और वहाँ का सिस्टम कुछ ऐसा था कि आपको कोई ख़ास तरह की सीट मिल गई तो महीने के पहले दस दिन आप काम कीजिये और फिर महीने में बाकी दिन आराम कीजिए। तो वो नौकरी मैंने इसलिए की। फिर जब भारत भवन में रंगमंडल बना तो इनको एक ऐसे आदमी की ज़रूरत थी जो प्रशासनिक समझ भी रखता हो और साहित्य भी जानता हो और नाटकों में भी नाम हो, ताकि वे कह सकें कि हमने इस आदमी को बुलाया है। तो मैंने कहा कि मैं डेपुटेशन पर जाऊँगा, क्योंकि मैं नौकरी नहीं छोड़ना चाहता था। तो उन्होंने मुझे डेपुटेशन पर बुला लिया। जब मैं डेपुटेशन से लौटकर आया तो मैंने नौकरी छोड़ दी। तब मैंने निर्णय लिया कि रंगमंच ही करूँगा, नौकरी नहीं करूँगा। नौकरी करते हुए रंगमंच करने की प्रेरणा मुझे मिली थी, यह जानकर कि मराठी-बंगला थियेटर में जो अच्छा थियेटर हो रहा है उसका रहस्य ही यही है कि सब अच्छी नौकरी करते हैं, तो हिन्दी में भी क्यों नहीं विकसित होता। हिन्दी में मैं ये देखता हूँ कि लड़के झोला टांगे हुए चले आते हैं। सर, कुछ हो नहीं रहा है। परेशान से। न रंगमंच अच्छे से कर पा रहे हैं, न कोई नौकरी कर पा रहे हैं और न टीवी से उनको उतना पैसा मिलता है। क्योंकि मैं उनको अच्छे से जानता हूँ।

आपने नाटकों में निर्देशक के रूप में ही कार्य किया है या अभिनय भी किया है?

अलखनंदन : अभिनय तो किया है पर संगठन के शुरू होने के बाद निर्देशन के साथ-साथ इतने संगठनात्मक कार्य हो जाते हैं कि अभिनय की ओर ध्यान नहीं दे पाते। संगठन के कार्य भी करने होते हैं। अभी मैं कैश-बुक लेकर आया हूँ, उसे लिखना है। मैं निर्देशन को उस तरह नहीं लेता कि ये नक्शा है, इसमें ऐसे आओ- यहाँ पर झाँझ बजेगी। मेरे लिए निर्देशन अभिनेता-अभिनेत्री हैं। जैसे कवि शब्द को रचता है वैसे मैं अपने कलाकार को रचता हूँ। इस बीच दूसरा पेंच ये भी आ गया कि मैं नाटक लिखने लग गया। अब तो अभिनय के लिए और भी वक़्त नहीं बचा। अब लेखन-निर्देशन साथ-साथ चल रहा है। मुझे क्या लगा कि हिन्दी रंगमंच में अच्छे अभिनेता की कमी है। यहाँ प्रतिभा है लेकिन बिखर जाती है, खत्म हो जाती, जैसे गुब्बी थियेटर कम्पनी थी। बहुत पुरानी कम्पनी थी कर्नाटक की। वो लोग चालीस-चालीस दिन तक गाँवों में टेंट लगाकर नाटक करते थे। उसके वीरन्ना साहब कहते थे कि जो लीडर है उसको एक साथ माँ, पति, पत्नी, बेटा- सब कुछ बनना पड़ता है, यहाँ तक कि गुंडा भी। मेरे लिए निर्देशन करना एक जासूसी है। बार-बार अपने कलाकारों को खोजना कि उनके भीतर क्या-क्या है, यह भी अपने आप में फुल-टाईम काम है। इसलिए अब अभिनय मैं स्टेज पर जाकर नहीं कर कर पाता।

आपको अभिनेता के रूप में अभिनय करना अच्छा लगता है या नाटकों का निर्देशन करना अच्छा लगता है?

अलखनंदन : अभिनेता मेरे भीतर है क्योंकि जब मैं नाटक निर्देशित करता हूँ तो मैं स्वयं अभिनेताओं को अभिनय करना भी तो सिखाता हूँ। हिन्दी रंगमंच में कच्चे अभिनेता आते हैं। हिन्दी रंगमंच में मुख्यतः जो अभिनेता आते हैं वो मध्यम वर्ग से आते हैं, जिनके पास नाटकों की कोई पूर्व परंपरा नहीं है। इसलिए मैं अपने भीतर के अभिनेता को बचाए रखता हूँ ताकि मैं उन्हें अभिनय का संस्कार दे सकूं। अगर मैं अपने अभिनेता को नाच-गाकर न दिखा सकूं, स्वयं अभिनय करके न दिखा सकूं, तो मेरा अभिनेता क्या सीखेगा? इसलिए मैं दोनों नावों पर पांव रखकर चलता हूँ। नाटकों के पूर्वाभ्यास में अभिनय तो करता रहता हूँ।

आप अपने रंगमंचीय जीवन का 'टर्निंग प्वाइंट' किस नाटक या घटना को मानते हैं?

अलखनंदन : मैंने 1974 से निर्देशन शुरू किया। शैक्सपीयर को मैंने बी.ए. प्रथम वर्ष में ही पढ़ लिया था। मैंने दो-तीन नाटक किये थे। सैमुअल बेकेट के नाटक 'वेटिंग फॉर गोडो' किया। म.प्र. के राज्य नाट्य उत्सव में 'वेटिंग फॉर गोडो' को आमंत्रित किया गया। इससे पहले

हर बार मैं एक नए सिरे से शुरू करता हूँ। हर कलाकार को ध्यान रखना चाहिए कि वह मास्टर कभी नहीं बनता, वो हमेशा एक नौसीखिया ही रहता है। इससे कलाकार हमेशा हरा-भरा रहता है। इसलिए मैं किसी नाटक को श्रेष्ठ नहीं मानता। सभी मेरे हैं, सभी मेरे लिए बराबर हैं। श्रेष्ठ की तलाश है।

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

किसी ने भी इस नाटक को पूरा नहीं किया था, मैंने ही इसे पूरा किया था। दरअसल मैं इसे अपना 'इन्ट्रोडक्शन प्वाइंट' मानता हूँ। मैंने ब.व. कारंत को लेकर रंगमंडल में 'महानिर्वाण' किया, जिसमें ब.व. कारंत ने स्वयं मुख्य अभिनेता के रूप में कार्य किया।

मैंने रंगमंडल में रहते ही 'वेटिंग फॉर गोडो' जैसे अमूर्त, नाटक को छत्तीसगढ़ी में किया। संगीत नाटक अकादमी की योजना के अंतर्गत मैंने 'चंदा बेड़नी' नामक नाटक बुंदेली में लिखा, जिसे मैंने स्वयं 'नट बुंदेले' के माध्यम से निर्देशित भी किया, जिसकी देश-विदेश में काफी चर्चा हुई। इसके बाद मैंने श्रीकांत वर्मा के काव्य-संग्रह 'मगध' की कुछ कविताओं को मंच पर प्रस्तुत किया। जिसे मैंने एशिया कविता समारोह में प्रस्तुत किया। जिसकी काफी प्रशंसा हुई। इस तरह मेरे जीवन में कई 'टर्निंग प्वाइंट' हैं। अब तो 'कबीरा खड़ा बाजार में' की सब जगह चर्चा है।

आप 'नट बुंदेले' के साथ कितने नाटक कर चुके हैं और उसमें से श्रेष्ठ नाटक किसे मानते हैं?

अलखनंदन : एक आदमी यदि जीवन में पन्द्रह दमदार नाटक कर ले तो वह बहुत है। मैंने लगभग अभी तक पचास नाटक किये हैं और नाटक करने का पहला सिद्धांत मैं भी मानता हूँ और दुनियाभर के नाट्य पंडित भी मानते हैं कि जो कृति दिल को छू नहीं गई उसे करना बेकार है। 'नट बुंदेले' नाटकों की गिनती में विश्वास नहीं करता। अब हम लोग हर साल एक नया नाटक करने लगे हैं। 'नट बुंदेले' में मेरे किए गए नाटक हैं- चंदा बेड़नी, जगर-मगर अंधेर नगर, मुर्गा देशी बांग विदेसी, राजा का स्वांग, मोटेराम का सत्याग्रह, जादू का सूट, किशनलाल, अंधेरे में। इस प्रकार 'नट बुंदेले' में मैंने आठ-दस कृतियां बनाईं। अब श्रेष्ठ नाटक कौन-सा है, वह कैसे बताएँ? 'चंदा बेड़नी' नट बुंदेले का 'हॉट केक' है, जिस शहर में भी जाता है वहाँ पहले से ही हल्ला रहता है। फिर हमने 'राजा का स्वांग' किया जो बहुत गंभीर नाटक है। स्थानीय होते हुए भी अंतर्राष्ट्रीय स्तर की समस्याओं की डील करता है। 'किशनलाल' इतना अच्छा किया एब्सट्रेक्ट रूप से कि रिपोर्ट ये थी कि एक्सपेरीमेंटल नाटकों का, यदि पन्द्रह-बीस नाटकों का अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर महोत्सव हो तो उसमें किशनलाल प्रस्तुत किया जाना चाहिए। अभी 'कबीरा खड़ा बाजार में' बहुत चल रहा है। इस तरह सभी अपनी-अपनी जगह महत्वपूर्ण हैं। श्रेष्ठ नाटक किसे कहें, उसी की तो तलाश है कि 'नट बुंदेले' का एक श्रेष्ठ नाटक हो। हर बार नाटक करने के बाद मैं एक खाली स्लेट हो जाता हूँ। हर बार मैं एक नए सिरे से शुरू करता हूँ। हर कलाकार को ध्यान रखना चाहिए कि वह मास्टर कभी नहीं बनता, वो हमेशा एक नौसीखिया ही रहता है। इससे कलाकार हमेशा हरा-भरा रहता है। इसलिए मैं किसी नाटक को श्रेष्ठ नहीं मानता। सभी मेरे हैं, सभी मेरे लिए बराबर हैं। श्रेष्ठ की तलाश है।

आपका प्रिय नाटककार कौन है?

अलखनंदन : यह नहीं बताया जा सकता कि प्रिय नाटककार कौन है। कई कारणों से कई प्रिय नाटककार हैं। आजकल मैं स्वयं नाटक लिख रहा हूँ, पर इतना तो तय है कि मैं अपना प्रिय नाटककार नहीं हूँ। अलग-अलग संदर्भों में अलग-अलग प्रिय नाटककार हैं। कालिदास मेरे प्रिय नाटककार हैं, इतना अच्छा वर्णन करते हैं। शूद्रक प्रिय नाटककार हैं, उन्होंने उस समय 'मृच्छकटिकम्' जैसा नाटक लिखा। शेक्सपीयर मेरे प्रिय नाटककार हैं, वे बहुत अच्छा चरित्रांकन करते हैं। मोहन राकेश का 'आषाढ़ का एक दिन', भारतेन्दु का 'अंधेर नगरी', विजय तेंदुलकर का 'ख़ामोश अदालत जारी है', बादल सरकार का 'एवम् इंद्रजीत', मोहित चटर्जी का 'अलीबाबा' भी प्रिय है। इसलिए कौन सबसे प्रिय है, यह कहना बहुत मुश्किल है। हाँ, जो भी अच्छा नाटक लिखता है, वो मेरा प्रिय नाटककार है।

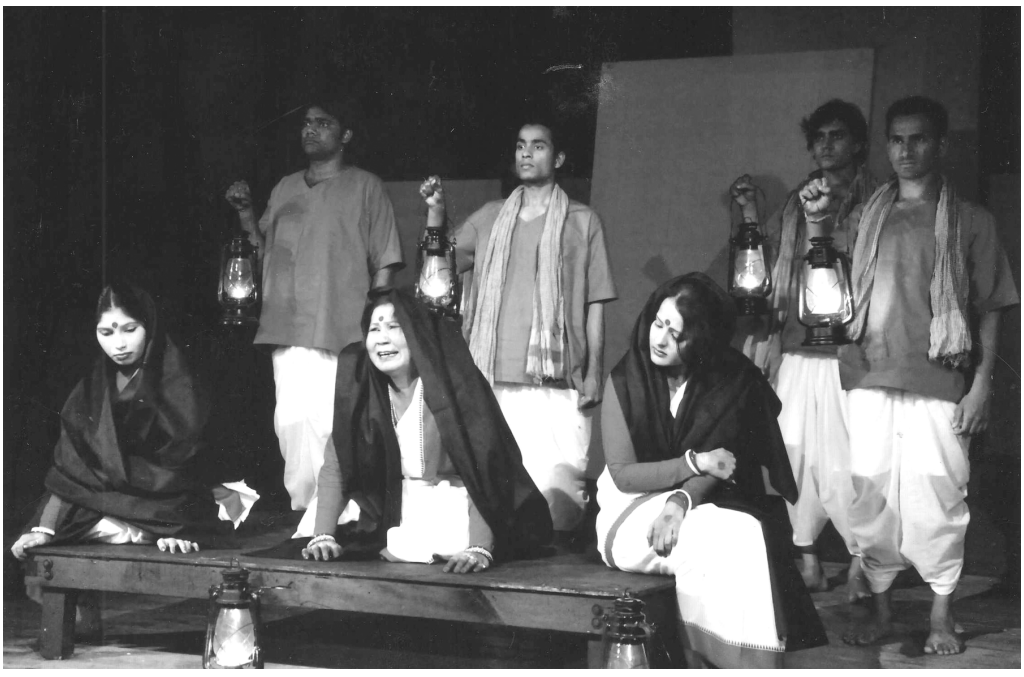

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

नाटक सामाजिक आंदोलन है

रंगकर्मी वसंत काशीकर से शांतिलाल जैन की बातचीत

सपने और संघर्ष का रिश्ता जब मन की सच्ची लगन से हो जाता है, तो जीवन का कारवाँ मंज़िल की ओर बढ़ने लगता है। मध्यप्रदेश के रंग परिवेश में वसंत काशीकर इसी इच्छाशक्ति का उदाहरण बन गये हैं। संस्कार धानी जबलपुर से उन्होंने नाट्य सक्रियता का पहला कदम बढ़ाया। अध्ययन, अध्यवसाय और अनुशासन के बुनियादी उसूल अपनाते हुए जीवन और रंगमंच की नातेदारी को बहुत गहरे में समझना शुरू किया। यही गंभीरता उनके नाट्य सृजन में उद्घाटित होती है। काशीकर के प्रयोग निराले हैं। आलेख के चयन से लेकर उसके नाट्य रूपांतरण और सम्प्रेषण की चुनौती तक वे जिस चौकसी और विवेक का परिचय देते हैं, वह दर्शकों के रुझान में साफ दिखाई देता है। 'रंग संवाद' के लिए कलाप्रेमी-लेखक शांतिलाल जैन से हुई बातचीत में वसंत काशीकर ने कई स्तरों पर अपने मन की गाँठ खोली है।

शांतिलाल : आप ज़्यादातर मॉर्डन नाटक लेकर आते हैं जो पहले नहीं हुए कभी।

काशीकर : जी हाँ, अभी तक ज़्यादातर मैंने कहानियों के लिए काम किया है। अभी लगातार छः - सात साल से जो काम हुए हैं उसमें पहला 'मायाजाल' था वो विजय दान देथा की कहानी पर आधारित था। उसके बाद 'मानबोध बाबू' किया वो चन्द्र किशोर जायसाल की कहानी पर आधारित था। दस दिन का अनशन परसाईजी की कहानी थी। अभी तक का पूरा काम देखता हूँ, पिछले तीस-पैंतीस साल का तो मैंने जितने नाटक किए हैं उसमें एक या दो छोड़ के बाकी सारे जो नाटक नए किए गये हैं, वो किसी और ने नहीं किए। मैंने ऐसे नाटक नहीं किए कि किसी नाटक को सुना हो और उसे ले लिया हो। मुझे जो पसंद आता है वो मैं करता हूँ। दरअसल होता क्या है कि बहुत सारे लोग किसी निर्देशक से प्रभावित होके या नाटक की तारीफ पढ़कर प्रसिद्धि सुनकर सोचते हैं कि हम भी ये करें। मेरा ये मानना है कि एक रचना जो बहुत अच्छी हो गई है, उसको हम कितना अच्छा करेंगे और क्यों करेंगे? आज 'आधे-अधूरे' या 'अंधायुग' हम क्यों करेंगे? उनकी प्रस्तुति अपने शीर्ष पर पहुँच गई है। अलकाजी ने या कारंथजी ने या हबीबजी ने जो काम कर लिए हैं, उनके नाटकों को हम क्यों करें? वो एक माईलस्टोन बन चुके हैं। हम ये करते हैं कि बिलकुल गुमशुदा लोग जिन्होंने बहुत अच्छी रचनाएँ लिखी हैं, उन रचनाओं को पढ़कर, नाटक तैयार करते हैं। इसीलिये मुझे जो पसंद होते हैं या मुझे जो स्ट्राईक करते हैं, मैं सोचता हूँ दर्शकों वही स्ट्राईक करे, तो उसमें मैं मेहनत करता हूँ। चाहता हूँ वो कहानी सारे लोग पढ़ लें। इसमें मैं ज़्यादा काम करता हूँ।

आपने पहले भी परसाईजी की रचनाओं पर काफी काम किया है।

परसाईजी पर मैंने बहुत काम किया है। इसीलिए नहीं कि परसाईजी के मैं बहुत अंतरंग था बल्कि मैंने उनको बहुत पढ़ा है। उनकी रचना प्रक्रिया से अप्रत्यक्ष जुड़ाव रहा है मेरा। वो मुझसे बहुत बड़े थे। उन्होंने ही मुझे साहित्य पढ़ना सिखाया। गंजीपुरा में एक दुकान थी, राय साहब की, वहाँ पर परसाईजी बैठते थे। वहाँ प्रगतिशील लेखकों, रचनाधर्मियों का और कई सारे लोगों का जमावड़ा होता था। उसके ठीक सामने एक दुकान थी, जिसमें मैं काम करता था और पढ़ता भी था। शाम को परसाईजी मुझे बुला लेते थे। वो एक दो किताबें मुझे दे देते कि इसे पढ़िये आप। इस पर एक हफ्ते बाद चर्चा करेंगे। उन्होंने मुझे सिखाया कि क्या पढ़ना चाहिए? फिर प्रगतिशील साहित्य, प्रगतिशील बातें, किसी राजनैतिक पार्टी की बातें। उन्होंने बोला कि ये सब चीजें आपके पढ़ने की हैं। दस-बीस साल बाद पढ़ोगे, बेहतर है अभी से पढ़ना शुरू कर दो। विसंगतियाँ पकड़ना या सामाजिक चीजों को उखेड़ना, उधेड़ना-बुनना ये आप अभी से सीखो। शायद वही एक कारण है कि मैं नाटकों को हुत बारीकी से देख पाता हूँ या कर पाता हूँ। मेरे एक्टर्स कर पाते हैं।

बहुत ही समान अधिकार से आपकी एक्टर के रूप में भी एक्सीलेंस है निर्देशक के रूप में भी।

बेसिकली मैं एक एक्टर ही था, शुरू में ते मैं एक्टिंग ही किया करता था।

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

अलखजी से काफी काम सीखा आपने।

ये सही है। अलखजी जबलपुर के ही थे। जबलपुर में जो भी थियेटर आज है, वो अलखजी की देन है। सारा कुछ उनने खड़ा किया। उस दौर में जबकि हम लोग कॉलेजेस में थे तो नाटक को इस तरह जानते ही नहीं थे। उस समय उन्होंने 'वेटिंग फॉर गोदो' किया। क्या आप भरोसा करेंगे कि अब उसे फिर से किया जा रहा है। जबलपुर जैसी जगह में लोगों के ऊपर से निकल गया था। उन्होंने कहा 'निकल जाने दें'। You hae to cultivate the audience. आपको दर्शकों को शिक्षित भी करना है, ये नहीं कि ऑडियेन्स ताली बजा रही है तो चुटकुले सुना के, चुटकुलों के नाटक बना के आप करोगे। ऐसे तो आप ऑडियेन्स को कहाँ ले जाओगे? उन्होंने पहली सीढ़ी बनाई - आपकी बहुत बड़ी जिम्मेदारी दर्शकों के प्रति है। दर्शक आप पर समर्पित हो जाते हैं। आप खड़े हो गए, आपने बोला- ये एक कमरा है, दर्शक मान लेते हैं ये एक कमरा है। आपने कहा- ये यहाँ एक कुआँ है, दर्शक बिल्कुल मान लेते हैं यहाँ एक कुआँ है, आपको कुछ नहीं करना है। जब दर्शक आपके साथ इतना फॉलो करता है तो आपको उसके साथ न्याय करना चाहिए। पहली सीढ़ी उन्होंने सिखाई?

आप अपने नाटकों में संगीत पर भी काम करते हैं। बहुत जबरदस्त आपके हर नाटक में संगीत में विशेष जान रहती है।

अभी भी है, मगर अब कम हो गया है। मेरे नाटकों में संगीत भी एक महत्वपूर्ण तत्व हुआ करता था। इस दौर में हम लाईव म्यूजिक नहीं कर पाते हैं। क्योंकि जो लोग एक्टर हैं और जो आते हैं बजाने वाले, अब बहुत कम हो गये हैं। हमने जितना काम किया पच्चीस सालों में, जितने विभिन्न तरह के नाटक किये, उनमें हमने हमारे बीच के स्टाफ में ही जो पोटेंशियल रहा उनका उपयोग किया। हम कहीं हायर नहीं करते थे म्यूजिशियन्स। हमारे यहाँ बजाने वाले भी मिल जाते रहे, गाने वाले भी मिल जाते रहे, म्यूजिक डायरेक्टर भी मिल जाते रहे, सारे लोगों ने जो काम किया वो बड़ा मौलिक होता था। हम उसमें प्रोफेशनल टच ले आते थे। लेकिन प्रोफेशनेलिज़म नहीं आता था। क्योंकि हम उसके पैसे नहीं देते थे, हम लोग रात भर बैठ जाते रहे, एक पेटी लिये। मैं एक गाना लिख रहा हूँ, रवि जोशी या मुरलीधर नागराज के निर्देशन में हम लोग रात भर में एक गाना तैयार कर लेते थे। हो गया, तो वो जो इनवॉल्व होकर चीज़ हुई तो इसलिये उसमें संगीत एक पात्र बन जाता रहा। अब क्या प्रॉब्लम आ गया है कि लाईव म्यूजिक नहीं है। लाईव म्यूजिक एक बार रिहर्सल करके रिकॉर्ड कर लो और फिर वो रिकॉर्डेड म्यूज़िक ही बजाते रहो। फिर अब तो बहुत बड़ी देन हो गई नेट, आप खुद डाउनलोड कर लो, खुद म्यूज़िक यूज़ कर लो।

तो मौलिकता को इसने प्रभावित किया है?

बहुत ज़्यादा प्रभावित किया। अब संगीत पात्र नहीं लगता, अब संगीत, संगीत लगने लगा है। नाट्य संगीत के बारे में मुझे कारंथजी से बहुत बड़ी शिक्षा मिली। कारंथजी से मिलने मैं लगातार भोपाल जाता था। उनसे मैं बहुत प्रभावित था। कारंथजी हालांकि भोपाल में रह के अपने नाटक देखते रहे। बाद में मुझे वे बुलाके बताते थे ये करना चाहिये, इस तरह करना चाहिये। कई बार दोपहर में रिहर्सल में आकर बताते थे। कारंथजी ने बोला, ये बिल्कुल अलग चीज है। नाटक के संगीत पर मत जाओ कि कोई आपको बड़ी मेलोडियस कोई चीज़ चाहिये। बहुत जोर से चीखना भी संगीत है, विलाप करना भी संगीत है।

थियेटर में आपकी शुरुआत कैसे हुई?

शुरुआत हुई कॉलेज से। फिर 'विवेचना' के नाटकों का दौर शुरू हुआ। मैं सागर जिले का हूँ, देवरी गांव में पैदा हुआ हूँ। मेरे पिता संगीत के अच्छे जानकार थे। उन्हें शास्त्रीय संगीत काफी आता था। वे पुवाड़ा-बुवाड़ा भी गा लेते थे, प्रोफेशनल नहीं गाते थे, बस उनको शौक था। तो वहाँ रासलीला होती थीं, कृष्णलीला होती थीं। मैं उसमें राधा बनता था, बिल्कुल छोटा बच्चा। वहाँ से मुझे ललक हुई। एक परिवेश जैसा था। माँ मेरी ग्वालियर की हैं, उनके पास एक बहुत विपुल प्रतिभा-सम्पदा थी, थिऐटर से मिली थी, उस कॉम्बीनेशन में मैं पैदा हुआ। वहाँ से हमारी शुरुआत हुई। फिर मैं स्कूल में जबलपुर आया। वहाँ पर हमको सिक्स्थ क्लास से थिऐटर एक सब्जेक्ट जैसा रहता था, जो आज नहीं है। अलग से नहीं रहता था, मगर हर क्लास के बच्चे उस थिऐटर में होते थे। वहाँ दो-तीन लोग थे, एक मैडम जोसफ थीं हमारी कॉर्डिनेटर, तो वहाँ हर क्लास को एक नाटक करना रहता था। कम्पलसरी था। तो क्लास में ही निर्देशक तैयार होता था, क्लास में स्क्रिप्ट चुनी जाती थी। ज्यादातर प्रेमचंद की या उस जमाने में बड़े रचनाकारों की कहानियाँ। हम लोगों ने कभी भी हल्की स्क्रिप्ट उस समय भी नहीं की। तो शुरू में साहित्य पढ़ना सिखया उन्होंने, रचना भी आप प्रेमचंद की करो, गुलेरी की करो या ऐसे ही बड़े साहित्यकार की करना चाहिये।

मैं वर्कशॉप्स लेता हूँ। शुरुआत में मैंने लोगों से पूछा कि आपने कोई नाटक किया अभी तक? बोले- 'नहीं'। नाटक देखा? नहीं। नाटक पढ़ा? नहीं। कोई कहानी पढ़ी? नहीं। ये आज की स्थिति है और ये पिछले 15 साल की स्थिति है। पिछले 15 सालों में इतना क्षरण हुआ।

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

वहाँ से शुरुआत हुई, खूब मार-कूट के हम लोगों को एक्टिंग सिखाई गई। मेकअप भी करते रहे। ये तो स्कूल में ग्यारहवीं तक हम पढ़े तब तक चला। फिर हम साइंस कॉलेज में आए। तो कॉलेजेस् में नाटक का क्रेज़ बहुत था। उस समय जितने हमारे प्रोफेसर्स थे वो सारे साहित्य से जुड़े हुए थे। शाम को सारे लोग राय साहब की दुकान में आते थे। मैं परसाईजी के निकट आया। पहला निर्देशक अलखनंदनजी को देखा। उस समय हम लोग उनसे बहुत दहशत में रहते थे। उस समय अलखजी का बहुत दबदबा था। वे बहुत चिल्लाते-चीखते थे। यहीं पढ़े, लिखे, सब कुछ यहीं, तो हम उनकी रिहर्सल देखने जाते थे। रिहर्सल के पहले साफ-सफाई कर दी, दरी बिछा दी, पानी भर दिया और खड़े हुए हैं चाय के ऑर्डर के लिए। तो वहाँ से जुड़े और फिर ये सोचते थे कि आज कोई एक्टर गोल मार दे तो प्रॉक्सी करने को मिल जाएगी। प्रॉक्सी की ललक रहती थी। अलखजी के काम में पंक्च्युलिटी यह रहती थी कि यदि पौने छः बजे रिहर्सल है तो वे खुद साढ़े पांच बजे पूरी तैयारी के साथ आकर बैठ जाते थे। देर होने पर वे तबीयत से डाँटते थे। कई बार मार भी देते थे। पंक्च्युलिटी नहीं सीखोगे बेटा तो नाटक नहीं कर पाओगे। यह तो क्राइम है कि आप दूसरों का टाईम खराब करो। पांच लोग आकर के बैठे हैं। आपके कारण सब बैठे हुए हैं। यह अपराध है। अनजाने में ये शिक्षा मुझे मिलती रही और वही कारण है कि मैं अपने ग्रुप को उसी ढंग से डील करने लगा। यही कारण है कि मैं अलखजी के साथ बहुत जुड़ा। शुरुआती दौर में एक बहुत अनुशासित आदमी से, पढ़े-लिखे और वेल ट्रेन्ड आदमी से सीखा। उस टाईम कोई कार्यशाला नहीं लगती थी, कोई एनएसडी की ट्रेनिंग नहीं होती थी।

तो आपने एक रीजन बताया कि आपको लगता है कि कुछ नया करें। वैसे भी नाटक कम ही लिखे जा रहे हैं।

हाँ निश्चित रूप से कम लिखे जा रहे हैं। मैं सहमत हूँ उससे। हो सकता है लिखे गये हों, लिखे भी हों। मेरे पास बहुत सारे नाटक हैं, अच्छे नाटक तो नहीं लिखे जा रहे। बहुत जो क्लिक कर जाएं, लेकिन लिखे जा रहे हैं। एक कारण ये भी है सारे लोग शॉर्टकट्स अपनाने लगे हैं। पढ़ता कोई भी नहीं है, समय ही नहीं पढ़ने को, और पढ़ने में सोचते हैं मुझे क्या मिलेगा? एक तैयार नाटक है जो बहुत सालों से हो रहा है उसी को हम कर दे रहे हैं। मूल कारण ये भी हो गया। पहले लोग पढ़ते-लिखते थे जैसे कि मैं, मेरे पास जैसे अभी लीव टाईम है, 15 दिन में और कुछ नहीं, जो चीज नहीं पढ़ पाये वो पढ़ लूंगा। तो मेरे काम और सोच में नई ताज़गी आएगी। मैं आपसे सहमत हूँ कि ज्यादातर रूपान्तरण देखने को मिल रहा है या अनुवाद देखने मिल रहा है। मराठी, बंगाली या अंग्रेजी से अनुवादित नाटक ज्यादा मिलेंगे। प्रकाशक भी कम हो गए हैं, पहले धर्मयुग में एक छोटा नाटक प्रकाशित हो जाता था। बड़ा हो तो गया फिर किश्तों में प्रकाशित होता था। नाटकों की किताबें प्रकाशित होती थीं। अच्छा नाटक पढ़ने वाले भी कम हो गए हैं, जैसे हम आपको बताएँ- मैं वर्कशॉप्स लेता हूँ, शुरुआत में मैंने लोगों से पूछा कि आपने कोई नाटक किया अभी तक? बोले 'नहीं'। नाटक देखा? नहीं। नाटक पढ़ा? नहीं। कोई कहानी पढ़ी? नहीं। ये आज की स्थिति है और ये पिछले 15 साल की स्थिति है। पिछले 15 सालों में इतना क्षरण हुआ। आज ये बताइये कि आप, जितना आपने पढ़ा या हम लोगों ने पढ़ा नौकरी करते हुए वो एक इन्ट्रेस्ट था ना! इन्ट्रेस्ट ही था। वो इन्ट्रेस्ट कहीं न कहीं डेवलप किया। हमने खुद डेवलप किया उसको। अचानक ऐसा नहीं आता कि आप परसाई पढ़ने लगे। शरद जोशी पढ़ने लगे आप इन सबको पढ़ने के पीछे कहीं न कहीं हमने अपने को भी डेवलप किया। जैसे नाटक स्टेट बैंक के होते रहे तो आपके देखने का नजरिया अलग रहता था, आप सारे नाटकों को प्रतिद्वंद्विता के हिसाब से नहीं देखते थे, सारे नाटकों को अच्छे से देखते थे।

एक चीज ये भी है कि जितने बड़े नाम हैं ज्यादातर एनएसडी से हैं। एनएसडी में उनके पाठ्यक्रम में ही अनेक अंग्रेजी नाटक हैं। भारत रंग महोत्सव में तो शर्मनाक स्थिति है। वहाँ पर तो जो सिलेक्शन होता है उसमें देखिये आप कितने विदेशी नाटक हैं। आप कहाँ हिन्दी नाटकों को प्रमोट कर रहे हो? दिनेश ठाकुर ने जितने नाटक किये हैं सब हिन्दी किये। विजय तेन्दुलकर को उसने पूरा किया। उन्होंने मेहनत की। वही एक हस्ताक्षर रहे जिन्होंने नाटक के दम पर अपना जीवन-यापन किया। फिल्मों में काम मिलने के बाद भी नाटक को प्रॉयर्टी दी उन्होंने। उन्होंने हजारों शो किये एक-एक नाटक के।

आप भी भोपाल या दिल्ली में होते तो कहीं इससे ज्यादा नाम मिला होता या उसकी चाहत ही नहीं रखी?

नहीं, चाहत ही नहीं थी। मेरे बहुत सारे मित्र हैं मुम्बई में। मेरे लिए बड़ा आसान था जब शारदा साहब थे मुम्बई में। उन्होंने ही स्टेट बैंक में नाट्य परंपरा प्रारंभ की थी। उन्होंने बहुत आगे की सोचकर के नाटकों को राजभाषा से जोड़ दिया था। शारदा साहब से हम बहुत अन्तरंग थे। उन्होंने मुझे बोला था कि तुम आ जाओ यहाँ। काम-वाम मिल सकता है। मैं नहीं गया। दो कारण थे, एक तो इतना बड़ा महासागर है, इतने

जितने बड़े नाम हैं ज्यादातर एनएसडी से हैं। एनएसडी के पाठ्यक्रम में ही अनेक अंग्रेजी नाटक हैं। 'भारत रंग महोत्सव' में तो शर्मनाक स्थिति है। वहाँ पर तो जो सिलेक्शन होता है, उसमें देखिये आप कितने विदेशी नाटक हैं। आप कहाँ हिन्दी नाटकों को प्रमोट कर रहे हो?

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

बड़े-बड़े लोग पड़े हैं, आप भीड़ में खो जाएंगे, आपको फ्रस्ट्रेशन हो जाएगा। हम तो अभी पायदान पर ही हैं ना, हम तो अभी सीख ही रहे हैं, तो हम तो अपने ही शहर में नाटक करेंगे। अभी जैसे मेरे दोनों बेटे-बेटी वहाँ हैं। कुछ दिन पहले दिनेश ठाकुर ने ही बोला ''यार! तू आ तो जा यहाँ, बहुत काम है। तेरे ऐज के एक्टर नहीं मिलते। मैंने मना कर दिया कि नहीं। हम यहीं बढ़िया अपने शहर में नाटक करेंगे। मैं नाटक को आंदोलन समझता हूँ। अभी भी हम जेब से पैसे लगाकर कर देते हैं कई बार ये होता है कि पूरी की पूरी तन्ख्वाह हमारी निकल जाती थी नाटकों में। अभी भी पेंशन का बड़ा हिस्सा मैं नाटकों में, किताब खरीदने में, या रिहर्सल में या नाटक के अन्य काम पर खर्च कर देता हूँ। बड़ा संतोष मिलता है।

जबलपुर में तो कोई सरकारी ऐड-वेड का भी कोई रोल ही नहीं है, नाटकों के लिए।

अभी तो ऐमेच्योर ग्रुप की यह हालत है कि लोग आ रहे हैं और जा रहे हैं। टिक नहीं रहे। नाटकों के प्रति जो हम लोगों में एक जुनून के साथ समर्पण भाव था। अब दिखता नहीं। हमारे समय एक टाईम चाय भी नहीं मिलती थी। पैदल, साइकलों पर जाके काम करते थे। अब नाटक के लोग वो खर्चा वहन नहीं कर पा रहे हैं। छोटे शहर की आर्थिक परेशानियाँ हम फेस कर रहे हैं।

निजी संस्थाएँ भी नहीं हैं आज की तारीख में।

कोई नहीं करता सर! सबके स्वार्थ रहते हैं, क्यों करेगा कोई? कोई क्यों करेगा? और अब तो कमर्शिलाइजेशन बढ़ता जा रहा है। भई ये आप ही सोचिये कि किसी कॉर्पोरेट के पास कोई प्रोजेक्ट लेकर जाओ तो वे पहले बोलेंगे कि हमें क्या फायदा? आप आए हैं, आप ये पांच हजार रुपए रख लो। ये दस हज़ार आप रख लो। इससे हम लोग नाट्य समारोह तो कर लेते हैं। लेकिन हम हर महीने तो आपके पास नहीं आ सकते। साल में एक ही बार जाएंगे।

फिर भी नए लोगों में से जो लोग आपसे जुड़ते हैं उसमें कुछ प्रतिशत तो होंगे जो समर्पित भाव के साथ टिक जाते हैं।

टिक जाते हैं। देखिये डिपेंड करता है निर्देशक पर। ये जरूर है कि आज के युवाओं को कैरियर पहले दिखता है। दिखना भी चाहिये, बिल्कुल बुराई नहीं है। मैं तो यदि बच्चों के एक्ज़ाम होते हैं तो नाटक पोस्टपोंड कर देता हूँ, एक्ज़ाम दीजिये। एक एक्टर अभी चला गया। उसका सिलेक्शन हुआ और वो चल दिया, अब मुझे जो तैयार करना है वो नया कर रहा हूँ। लेकिन मैंने ये नहीं किया कि नहीं, यार तुम मत जाओ। यदि डायरेक्टर सही ढंग से चीजों को सिखाए तो थियेटर के प्रति वो सम्मान, वो भावना पैदा की जा सकती है। छोटे-छोटे वर्कशॉप्स में। थिऐटर आपको क्या देता है ये सिखाऐं। हम पैसा नहीं देते। आपको रिकग्निजिशन मिलता है, आपको लाईफ में कॉन्फीडेन्स मिलता है। दूसरों के साथ सामन्जस्य बिठाके काम करने का संस्कार मिलता है। चीज़ों को टाईम बाउण्ड मैनर में करना, कि 28 को शो है तो 28 को ही। कैसी भी मेहनत करके करना है?

आप बैक स्टेज को भी बहुत तरजीह देते हैं।

बैक स्टेज में जहाँ हम सामने नहीं दिख रहे हैं लेकिन उतना ही इंट्रेस्ट से वो काम करना है। दर्शक हमें नहीं देख रहा है। हमारी तैयार की हुई चीज को देख रहा है। ज्यादातर लोगों को फोटो खिंचाने की आदत रहती है, तो कैसे उनको समझाना है कि बैक स्टेज कितना महत्वपूर्ण है। इसलिये मैं इन्ट्रोड्यूज सबसे पहले बैक स्टेज को कराता हूँ। जब भी इन्ट्रोडक्शन होता है नाटक खत्म होने के बाद तो सबसे पहले बैक स्टेज वालों को बुलाता हूँ कि उनको, उनके कारण ही नाटक सक्सेस हुआ। तो ये हमारे ऊपर डिपेन्ड करता है। अब तो अखबारों और मैग्जीन

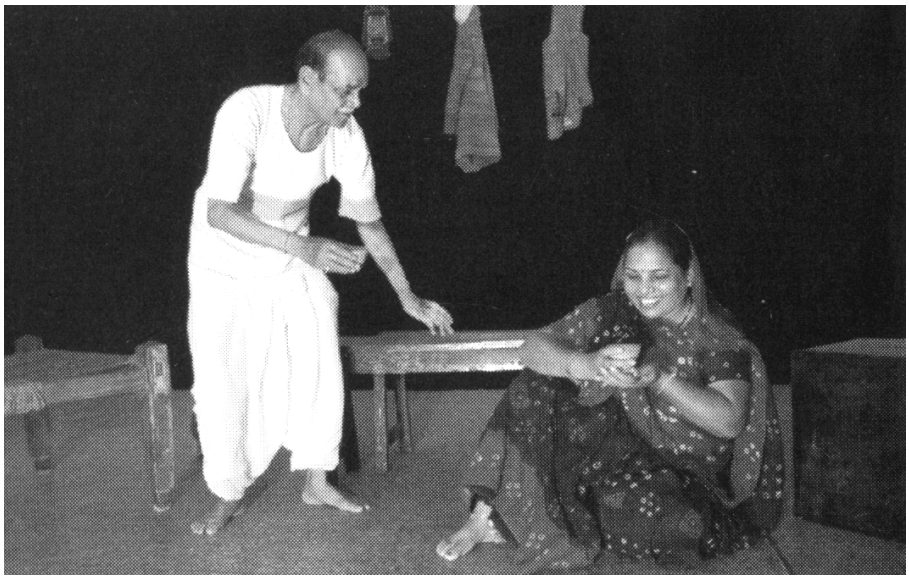

उदयप्रकाश की कहानी पर आधारित और वसंत काशीकर निर्देशित नाटक 'मौसाजी जैहिन्द' का एक दृश्य। प्रस्तुति : विवेचना, जबलपुर

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

से भी साहित्य सिमटता जा रहा है। पहले एनडीटीवी पर भी एक प्रोग्राम आता था लाईम लाईट। सुधीर सेठी करते थे। अब तो वो भी बंद हो गया है। अब तो शायद कभी बुक्स पर वो एकआध प्रोग्राम कम्पाईल कर दें बस। तो नये बच्चों को बहुत कुछ जानकारी भी नहीं है। बहुत सारे नये बच्चों को पता ही नहीं कि ये भी विधा है या इसमें काम होता है या इसमें अच्छा काम होता है। कुछ मालूम ही नहीं ना, कॉलेज लेवल पर जो ड्रामा है, वो सोचते हैं कि यही ड्रामा है। दूसरा अब जो अपने नाटकों की रिव्यूज आती है उनमें मेहनत का अभाव है।

कला समीक्षकों के बारे में कहना चाह रहे हैं?

भोपाल में विनय उपाध्याय अच्छा लिखते थे एक जमाने में, नई दुनिया जबसे छोड़ी तब से उनका अखबारों में लिखना ही बंद हो गया है। जनसत्ता में संगम पांडे लिखते हैं, अच्छा लिखते हैं। आजकल समीक्षक हैं कहाँ? ब्रोशर ही तो छापते हैं या समाचार के रूप में छापते हैं। हालांकि देखिये ये जिम्मेदारी नाट्य समीक्षक की है। या तो वो पढ़के नाटक देखे या पूरा नाटक देखे और फिर लिखे। न्याय हो। लेकिन आजकल तो क्या होता है कि फोटो खींचकर ले गए। दोपहर में रिहर्सल के दौरान आए आपसे कुछ-कुछ पूछा, ब्रोशर लिया और न्यूज छाप दी। कई बार जो समीक्षाएँ आती हैं वो पढ़के समझ में ही नहीं आता कि ये नाटक कैसा रहा होगा? अच्छा कि बुरा।

एब्सर्ड थियेटर के बारे में कुछ बताना चाहेंगे।

Absurd is a also form of theatre और ये बड़ा पुराना form है। हमारे यहाँ दर्शक के लेकर दुविधा बनी रहती है। हम पूरे टाईम सोचते हैं कि दर्शक कहीं बिचक ना जाए, तो एब्सर्ड प्ले करने की कोई रिस्क नहीं लेता। एब्सर्ड प्ले में रिस्क है। अब बहुत सारे बिन्दुओं पर काम करना, बहुत सारी चीजें बनानी पड़ती हैं जैसे एब्सर्ड पेंटिंग होती है। आपको खोजना है चीजें। हमने बिन्दु दे दिया, आपको खोजना है। 'वेटिंग फॉर गोदो' एब्सर्ड प्ले ही है। अब उस एब्सर्ड प्ले को करने की कोई हिम्मत नहीं करता। एब्सर्ड प्ले होना चाहिये, क्योंकि दर्शकों की मस्तिष्क का पूरी की पूरी वर्जिश कराना भी हमारा काम है। ब्रेन स्टॉर्मिंग हमारी जिम्मेदारी है। हम बड़े सरल-सरल चुटकुले वाले नाटक करके दर्शक को हंसाने-गुदगुदाने का काम न करें। ज्यादातर आजकल लोग गुदगुदाने वाला काम करते हैं। बोलते हैं बहुत बढ़िया। बड़ा हिट प्ले! वो हिट तो है, पैसा भी कमा लोगे, रिपीट शो भी मिल जाएंगे, पर आपकी सामाजिक भूमिका का क्या! नाटक या साहित्य को हम आगे कैसे बढ़ाते हैं ये महत्वपूर्ण है। ये तो डॉक्यूमेंटेशन होता है ना, किसी भी काल का डॉक्यूमेंटेशन। हम जो भी काल पढ़ते हैं रीतिकाल या जो भी, उसे उस काल की रचनाओं से जाना जाता है। प्रेमचंद का काल प्रेमचंद की रचनाओं से जानते हैं। उस परिवेश में कैसे-क्या होता था। ये जानना-दिखाना हमारी एक जिम्मेदारी है। आजकल न कोई यात्रा वृत्तांत लिखता है न कोई लेखन की जिम्मेदारी लेता है। तो हम तो थियेटर को कन्टेम्परी बनाते हैं। अब मैं फिर एब्सर्ड प्ले पे ही आ रहा हूँ। दर्शक शुरू में एब्सर्ड प्ले से भागेगा तो ठीक है लेकिन जैसे-जैसे एज्यूकेट होता जाएगा वो बहुत बढ़िया ढंग से एब्सर्ड प्ले देखेगा। होना चाहिये। पहले रिस्क लेना चाहिये। रिस्क कमर्शियल ऑर्गेनाइजेशन या कॉर्पोरेट लेवल से प्रायोजित लोग नहीं ले सकते। ये हम ही लोग ले सकते हैं। भई अलखजी ने वेटिंग फॉर गोदो उस समय किया था जब यहाँ के शुरुआती दर्शक जोड़ने थे। उन्होंने रिस्क ली थी। तो दर्शकों ने एकदम देखा, अरे बाप रे! ये भी नाटक होता है?

अभी आगे इसी तरह कहानियों के मंचन की योजनाएँ हैं आपकी?

नहीं, मैं कहानी का मंचन नहीं करता, कहानी को रूपान्तरित करता हूँ। मेरे को शाहिद अनवर नाटक भेजते हैं। और भी लोग मेरे पास नाटक भेजते हैं। शाहिद के बहुत अच्छे नाटक हैं, पर शाहिद का मैंने एक ही नाटक किया 'सूपना का सपना'। उसके बहुत अच्छे दो-तीन नाटक हैं, पर वो क्या है कि नाटकों के लिये ठीक से एक्टर नहीं मिलते। लेखक के साथ मैं न्याय करता हूँ। लेखक की कृति को नष्ट नहीं करना चाहिये। कुछ भी आपको करना है कि बस उनका नाटक कर दिया वैसा नहीं। उस लेवल के जब तक एक्टर नहीं मिलते मेरे साथ, तो अब मैं क्या करता

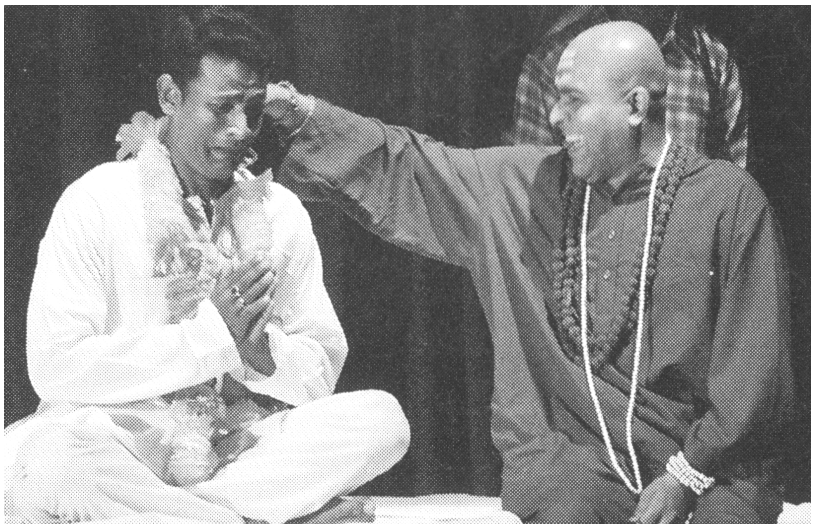

हरिशंकर परसाई की कृति पर आधारित नाटक 'दस दिन का अनशन' का दृश्य। नाट्य रूप तथा निर्देशन - वसंत काशीकर। प्रस्तुति : विवेचना, जबलपुर

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

हूँ- मैं वर्कशॉप लेता हूँ, या मेरे जो पुराने सीनियर एक्टर हैं, ऐसा मेलजोल मिलाकर के पहले मैं देखता हूँ कि मेरे पास इस बार उस लेवल के एक्टर हैं, उनके हिसाब से मैं स्क्रिप्ट्स का चयन करता हूँ। क्योंकि मेरे यहाँ के लोगों की भी लिमिटेशन्स हैं। बहुत सारे के सारे ट्रेनीज हैं। जब हम अपने आपको ट्रेनी बोलते हैं तो मेरे एक्टर भी ट्रेनीज़ हैं। मेरे पास अभी रमेश राजहंस का एक नाटक रखा है 'दोषी कौन?' मेरा ये प्लान हुआ था कि मैं भोपाल जाकर भोपाल के एक्टर्स से कराऊँ। मुकेश शर्मा से बात की। फिर स्वास्तिका से बात की। स्वास्तिका तो क्या है कि एक साथ पाँच-छः ग्रुप में काम करती थी। उसके पास टाईम नहीं था। मैंने ये सोचा था कि मैं एक महीने भोपाल में रहूँगा वहाँ के एक्टर्स से तैयार कराऊंगा। उसके दो कारण हैं एक तो क्या होता है कि आपका जो ग्रुप है, वही के वही रिपीट होते हैं तो लोग ऊब जाते हैं। कितना अच्छा कर ले कोई, हर कोई कुछ नया देखना चाहते हैं। हम यहाँ राष्ट्रीय नाट्य समारोह क्यों करते हैं? नये एक्टर, नये डायरेक्टर, नई कहानियाँ, नई विधाएँ, नया काम दर्शकों के लिये। 'दोषी कौन?' यहाँ के एक्टर से मैं नहीं कराऊंगा। राजेश जोशी का एक नाटक है 'अच्छे आदमी' उसका मैंने और गुप्तेशजी ने बुन्देली रूपान्तरण किया है। राजेश के पास भिजवा भी दिया, उसको मैं यहाँ नहीं तैयार करवाऊंगा। यहाँ सब सही बुन्देली नहीं बोलते हैं। उसको मैं सागर में जाकर के तैयार करवाऊंगा। अब वहाँ मैं पन्द्रह दिन रहूँगा, वो तैयार करवाऊंगा। एक तो वो काम मुझे करना है। फिर 'दस दिन का अनशन' का दूरदर्शन के लिये कांट्रेक्ट मिला है। 55 मिनट का बनाना है। तो अब मैं उस पर काम करूंगा। वैसी तैयारी करूंगा। फिर ऐसा हुआ कि मध्यप्रदेश नाट्य उत्सव था वहाँ कॉल से आया। पहले ये था कि आप नाटक करिये तो मैंने बोला हमारा सबसे अच्छा जो अभी चल रहा है 'मानबोध बाबू', तो उसे कर दें। उन्होंने करीब-करीब 15 दिन पहले बोला नहीं सर, वर्जिन प्ले चाहिये। अब मेरे पास बड़ी समस्या आई है। आलोक चटर्जी का एक फोन आया कि नया नाटक चाहिये। इसलिये मेरे बैंक के पुराने साथी एवं हमारे अपने कलाकारों को मिलाकर नया नाटक 'अर्जेन्ट मीटिंग' तैयार किया।

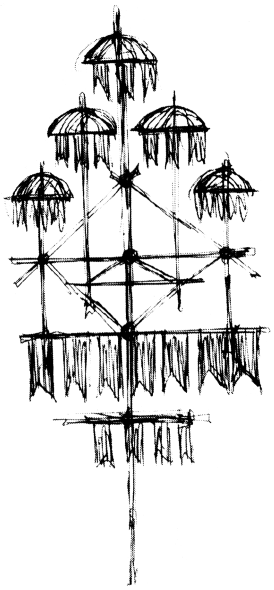

इसके बाद अभी चन्द्रकिशोरजी की एक कहानी है उसका रूपान्तरण कर रहा हूँ। वो जरूरी नहीं कि अभी करूँ मैं, रूपान्तरण रखे हैं मेरे पास। होमवर्क किए हुए। पाँच-छः नाटक तैयार हो गए हैं। और मैं क्या करता हूँ कि करीब अगस्त एंड या सेप्टेम्बर फर्स्ट वीक में वर्कशॉप लेता हूँ, प्रोडक्शन ऑरियेन्टेड। वर्कशॉप में कुछ नये-नये लड़के-लड़कियाँ मिल जाते हैं। कुछ पुराने बचे हुए। ऐसे करके एक टीम बनती है और उसी में मैं नाटक तैयार करता हूँ। इसका पहला शो राष्ट्रीय नाट्य समारोह में करता हूँ। मैं वो भी रिस्क लेता हूँ। राष्ट्रीय नाट्य समारोह है इसलिये और मेहनत करो, और मेहनत करो, और मेहनत करो।

हमारे बहुत से एक्टर अड्डेबाजी में पैदा हुए। कोई किसी की मिमिक्री कर रहा है। कोई किसी का किस्सा सुना रहा है। फिर इतने में कोई शराबी या भिखारी आया तो उसको ध्यान से देख रहे हैं। फिर उनकी मिमिक्री कर रहे हैं। अनजाने में हम समाज की विसंगतियाँ पकड़ते रहते थे।

दूसरी सबसे बड़ी जो कमी आई है आजकल, जो मैं एज ए डायरेक्टर महसूस करता हूँ कि एक्टर्स में अड्डेबाजी बंद हो गई है। पहले क्या होता था चाय की दुकानें थीं, पान की दुकान, वहाँ खड़े हो जाते थे कुछ देर। लगता था टाइम वेस्ट हो रहा है, फिर शाम को हम किसी भी एक जगह पर अड्डेबाजी करते थे। हमारे बहुत से एक्टर अड्डेबाजी में पैदा हुए। कोई किसी की मिमिक्री कर रहा है। कोई किसी का कुछ सुना रहा है। कोई कुछ भी कर रहा है फिर इतने में कोई शराबी या भिखारी आया तो उसको ध्यान से देख रहे हैं। फिर उनकी मिमिक्री कर रहे हैं। अनजाने में हम समाज की विसंगतियाँ पकड़ते रहते थे। रोज़ हम चीज़ें सीखते रहते थे। फिर उनका उपयोग नाटक में केरेक्टेराइजेशन में करते थे। कोई भी नाटक का कैरेक्टर पकड़ो तो तुरन्त सोचते थे कि हमारे ताऊ ऐसे थे या मौसा जी ऐसे करते थे, फूफाजी ऐसे करते थे। यार वो फलाना था, पन्नालाल चपरासी था। यार बिल्कुल ऐसा ही था, तो तुरंत पन्नालाल चपरासी, चूंकि उसको बहुत नज़दीक से देखा था सारे लोगों ने, तो सबको क्लिक हो जाता था। हाँ गुरु, ये ही है वो, तो उस एक्टर ने फिर पन्नालाल पर मेहनत करना शुरू की। तो वो एक नया केरेक्टर लिख गया। आजकल केरेक्टर पकड़ने में बड़ी मुश्किल हो रही है, क्योंकि शराबी बोलो तो वो केष्टो मुखर्जी कर लेते हैं। मैंने उन लोगों से बोला कि यार, तुम जाओ ना यार, बैठो तो तुम ताड़ीखाने में बैठो। हम ये नहीं बोल रहे आप दारू पियो लेकिन आके देशी दारू के ठेके की बेंच पर बैठ जाओ। एक घंटे। ऑब्जर्व करो। अब आपको यदि डर लगे कि यार लोग मेरे को सोचेंगे कि मैं वहाँ बैठा था, तो हमने कहा कि देखो ये आपके ऊपर डिपेंड करता है। वो ऑब्जरवेशन वाली बात है। जैसे लोग कई बार बोलते हैं- अरे यार! हम बड़े बोर हुए। मुझे तो बड़ा मजा आता है, ट्रेन लेट हो गई मुझे कोई फर्क नहीं पड़ता। अब प्लेटफॉर्म पर आपको जितने कैरेक्टर्स मिलेंगे, बस स्टॉप पर जितने कैरेक्टर्स मिलेंगे, यात्रा में जितने कैरेक्टर्स मिलेंगे, कहीं नहीं मिलेंगे। आपकी नज़र और पकड़ होनी चाहिये।

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

वो लोग समाज का सच्चा आईना देते हैं।

हाँ, मैं एक बार ऐसे ही बस में जा रहा था। मैंने बोला यार वो बस में जो किताब बेचता है हॉकर, वो आकर आपको तुरंत करेगा- हेलो! मिस्टर, प्लीज़ मेरी बात सुनिये, उसने पूरा अटेंशन अपनी ओर कर लिया। फिर अपनी बिक्री शुरू कर दी। अलग तरीके से अटेंशन अपनी ओर कर लिया। तो मैंने बोला- ये सीखो ना। किताब बेचने वाले का मैंने बता दिया या कोई भी ट्रेन यात्रा की चीजें। मेरी 'मानबोध बाबू' की ऐसी ही यात्रा है। मुम्बई से कलकत्ता की यात्रा के दृश्य दिखाए एक पूरे कम्पार्टमेंट नहीं, लेकिन पूरी ट्रेन चलती रहती है वो। तो वो सारी चीजें कॉमिकली पब्लिक को क्यों मिलीं? क्योंकि हमने वो भोगा। हमने एक्टर्स को याद दिलाई कि आपने भी भोगा है, आपने उसको सेव नहीं किया, मैं आपको याद दिलाता हूँ। तो उनको भी याद आती हैं चीजें। तो हम उसी बात पे फिर आ रहे हैं कि ये निर्देशक की भी जिम्मेदारी है कि एक्टर्स को प्रशिक्षित करें। वैचारिक, शारीरिक प्रशिक्षण हम दे देते हैं, हम स्पीच पर काम कर लेते हैं, हम सब कर लेते हैं। नाटक के लिए तीन चीजें ज़्यादा ज़रूरी हैं- एक आपका मस्तिष्क, आपकी आवाज़ और आपका शरीर, इन तीन चीज़ों को बेहतरीन कसके रखो आप बहुत अच्छे एक्टर रहोगे।

परिवार ने भी काफी साथ दिया आपका।

परिवार ने ही साथ दिया। हम इनके कारण ही कर पाये। एक दौर था जब सारी रिहर्सल्स मेरे घर में होती थीं। मेरी पत्नी 20-20 लोगों का खाना बनाती थी। क्राफ्ट का काम रात-रात दो-दो बजे तक होता रहा। बच्चे पढ़ रहे हैं, बच्चे सो रहे हैं, इतना हल्ला हो रहा है, मेरी पत्नी ने कभी नहीं बोला कि बच्चों का कैरियर खराब हो जाएगा। इसके पीछे एक ही कारण था सबसे बड़ा कि आप अल्टीमेट जो कर रहे हो, उससे आप डिरेल तो नहीं हो रहे हो? आप यदि सजग और सही काम कर रहे हो तो घर के लोग साथ देंगे। हम क्राफ्ट और म्यूजिक के टाईम शराब भी पीते थे, लेकिन उस पे कभी ऑब्जेक्शन नहीं हुआ क्योंकि शराब प्रॉयरटी नहीं थी, शराब सबको इकट्ठा करने का एक कारण थी। लेकिन वो हम कब शुरू करते थे जब काम हो जाता था। प्राथमिकता नहीं थी।

मेरे बच्चों ने नाटक भी किये साथ में हमारे। पूरे बैंक स्टेज का काम मेरी पत्नी करती थी, कोई परिवेश इनका नहीं था पहले। पर हमको इंट्रेस्ट क्रिएट करना है। यदि हम इस नाटक के दौरान डिरेल हो जाते तो कौन साथ देता? और क्यों देता? सबसे अहम मूल जिम्मेदारी यदि आप सजग हैं, आप सही काम कर रहे हैं, आपका मोटो सही है तो साथ देने वाले खूब मिलते हैं। कई बार तो ये है कि आर्थिक मदद नहीं दे पा रहे तो साथ में खड़े हैं आपके, बताएँ अब कहाँ चलें, बैठिए स्कूटर पर, प्रेस चलते हैं। ये साथ ही हुआ। इनडायरेक्टली फाइनेंशियल मदद की ना कि मेरा पेट्रोल खर्च नहीं किया। वो आ गए, आज प्रेस में चलेंगे, मैं आ रहा हूँ, फालतू नहीं जाओगे, मेरे साथ बैठो अपन चलते हैं। गपशप भी हो जाएगी और चाय भी पी लेंगे डिलाइट टॉकीज पर। ये क्योंकि उसको मालूम है कि हम सही काम कर रहे हैं और शहर में भी लोग आपका साथ देंगे, यदि आप सही काम कर रहे हैं। और आप यदि लफ्फाजियाँ करोगे, जबरदस्ती के आडम्बर करोगे, आप मुखौटे लगाए रहोगे तो थोड़े दिन बाद तो आप उघड़ जाओगे।

जितने भी बड़े साहित्यकार हैं वो मूलतः नाटककार हैं, कालिदास, जयशंकर प्रसाद, मोहन राकेश, धर्मवीर भारती आदि। पर नए साहित्यकारों में नाटक लिखने वाले कम हैं।

इसलिए कम हैं कि देखिये, आजकल एक तो पत्र-पत्रिकाओं की संख्या इतनी बढ़ गई है कि बहुत आसान हो गया है छपना, तो बड़े स्पीड से पत्रिकाओं में छप रहे हैं। आप एक कहानी लिख डालो, एक कविता लिख डालो, हो जाएगा। नाटक और उपन्यास में समय लगता है। नाटक में तो और भी समय लगता है

आपसे जो बातचीत हुई तो आपने काफी सिल्वर लाईनिंग भी दी है, मतलब ऐसा नहीं है कि परिदृश्य खराब ही खराब है, आपने बहुत सारी उसमें आगे के लिए संभावनाएँ भी व्यक्त की हैं।

हैं, बहुत संभावनाएँ हैं, आज भी मैं कह रहा हूँ कि ग्रामीण रंगमंच को पुनः शुरू यदि किया जाए, जैसे हबीब साहब ने छत्तीसगढ़ के लोगों के साथ काम किया। ये बुनियादी चीजें लेके आए। उन्होंने यही

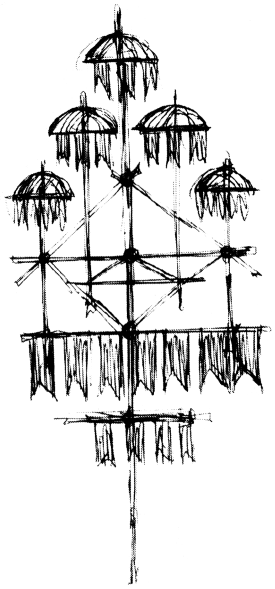

हर अंचल के लोक नाटक लगभग समाप्त होने आ गए, मालवा में माच होता था, खतम हो गया, कहाँ हो रहा है? छत्तीसगढ़ में नाचा खतम होता जा रहा है, उत्तरप्रदेश की नौटंकी खतम होते जा रही है। नौटंकी का अब फिल्मीकरण हो गया है।

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

महत्वपूर्ण काम किया। यदि मैं आज यह जिम्मा उठा लूँ कि मुझे ग्रामीण परिवेश की लुप्त हो रही लोकसंस्कृति के लिए काम करना है तो यह एक बहुत बड़ी उपलब्धि होगी।

देवेन्द्र सत्यार्थी ने लेखनीबद्ध किया है। तो आप उसका उपयोग करेंगे नाटकों में।

हाँ, नाटक के लिए उपयोग करेंगे तो लोगों में फिर से एक नई चेतना आएगी। जो हम रोना रो रहे हैं कि शहर के कलाकार या गाँव कलाकार अब नहीं मिलते, ऐसा नहीं है। देखो ना हर, हर अंचल के लोक नाटक लगभग समाप्त होने आ गए, मालवा में माच होता था, खतम हो गया, कहाँ हो रहा है? नाचा खतम होता जा रहा है, नौटंकी खतम होते जा रही है। नौटंकी का भी अब फिल्मीकरण हो गया है।

ग्रामीण रंगमंच को पुनः शुरू यदि किया जाए, जैसे हबीब साहब ने छत्तीसगढ़ के लोगों के साथ काम किया। वे बुनियादी चीज़ें लेके आए। उन्होंने यही महत्वपूर्ण काम किया। यदि मैं आज यह जिम्मा उठा लूँ कि मुझे ग्रामीण परिवेश की लुप्त हो रही लोकसंस्कृति के लिए काम करना है तो यह एक बहुत बड़ी उपलब्धि होगी।

कहते हैं जो लोग एनएसडी से जो निकलते हैं उनमें नकचढ़ापन आ जाता है। एक वो लोग हैं जो बिना कहीं से ट्रेनिंग लिए भी थियेटर में अच्छी एक्टिंग करते हैं या अच्छा काम करते हैं। उस प्रवृत्ति के बारे में क्या कहेंगे। फिर कल आप कारंथ जी की कुछ बात बता रहे थे।

कारंथ जी से मैं लगातार मिलता था। मैं जब भी भोपाल जाता था तो मैं दो अपोर्च्युनिटी ढूँढता था। एक अलखजी से मिलने की और एक कारंथजी से मिलने की। और कारंथजी भी मुझे समय दे देते थे। वो चाहे रात के एक बजे दें। मुझे कोई न कोई शिक्षा देते थे। जैसे एब्सर्ड प्ले के बारे में आपने बात की। उन्होंने वो ही बताया कि देखो जब युद्ध खत्म हुए, युद्ध के बाद चीजें एब्सर्ड होनी ही थीं। 'वेटिंग फॉर गोदो' वहीं से पैदा हुआ कि ऊल-जलूल चीज़ें, ऊट-पटांग चीज़ें, जो दिमाग में आती हैं उसका भी तो नाटक किया जाता है। ये सारी विभीषिकाएँ, ये सारी चीजें कैसे दिखाओगे? सौंदर्य से नहीं दिखा सकते। वे एब्सर्ड तरीके से ही दिख सकते हैं। उन्होंने वो जो मैं मूल बात कर रहा हूँ मुझसे बोली- तुम कोई नृत्य देखते हो तो तुम्हें घुंघरू की आवाज़ आती है, वो कैसी लगती है? तुमने कभी उसके बारे में कुछ सोचा कि जिस नस में वो घुंघरू टकरा रहा है, वो उसके दर्द से निकली आवाज है। उसका दर्द कौन देखेगा? उस पर देखो। आज कौन ध्यान देता है?

अब, एनएसडी का और अमेच्योर थियेटर का तो ऐसा है कि जैसे कि हम लोग प्राइमरी स्कूल से पढ़े हैं और हमारे जमाने में कॉन्वेंट स्कूल से पढ़े लड़कों के संस्करण, टारगेट, वे ऑफ लाईफ, सामाजिक दायित्व में अंतर पाओगे, वही चीज़ एनएसडीएन्स और अमेच्योर में है। वो समझते हैं कि हमने इन तीन साल में ड्रामा के बारे में सब कुछ पढ़ लिया है और वहाँ से पास आऊट आदमी बिल्कुल वो किंग बन गया है थियेटर का। फिर उनका जो ट्रेनिंग सिस्टम है जो बाहर वर्कशॉप लेते थे वो पूरा का पूरा, वो ही की वो ही चीजें पढ़ाते। बिल्कुल सही है, जरूरी है, वो पढ़ना भी जरूरी है, वो सारी चीजें हम लोग भी पढ़ते हैं। दिल्ली भारत में ही एक शहर भर है। ऐसे ही जैसे जबलपुर। अंकुरजी बोलते हैं जो काम रूरल में हो रहा है वही काम है थियेटर में आज की तारीख में। छोटे शहरों में हो रहा है, वही काम जेनयुईन हो रहा है। क्योंकि यहाँ मौलिकता है हर चीज़ की, यहाँ सपोर्टेड चीज़ कुछ नहीं। यहाँ मौलिकता है, यहाँ रिपर्टरीज़ नहीं है। वहाँ रिपर्टरीज है, वहाँ स्टूडेंट पर एक ठप्पा है एनएसडी फर्स्ट ईयर, सेकण्ड ईयर, थर्ड ईयर के प्रोडक्शन में है। वो उसको हाईलाईट करते हैं क्योंकि उनके पास फंड है, बजट है। हमारे पास बजट ही नहीं है, कम बजट तो छोड़ दीजिये। वहाँ बेसिक एक कसम खिलाई जाती है कि आप अपने-अपने क्षेत्र में जाकर रंगकर्म को विकसित करोगे। कोई नहीं करता। हम लोग जो एनएसडीयन नहीं हैं, कर रहे हैं। थियेटर को एक आंदोलन की तरह, उन लोगों के आंदोलन की तरह नहीं कर रहे हैं। उन लोगों का कमर्शियल एटीट्यूड होता है, कितनी फीस मिलेगी, कितनी प्रोडक्शन ग्राण्ट मिलेगी, वो उसी ताने-बाने में लगे हैं। भोपाल में लाईट ऑपरेट करने वाले, लाईट डिजाईन करने वाले आपको दस लोग मिलेंगे। जबलपुर जैसे छोटे शहरों में कोई नहीं मिलेगा। हम उन्हें भी बॉरो करते हैं बिकॉज हम कम्प्रोमाईज नहीं करते। सिखाने के नाम पर, हमारे यहाँ के लोगों को वो एक्स्पोजर नहीं हैं ना। हम सिखाएँ कहाँ पे? एक भी ऑडिटोरियम नहीं है। वहाँ तो रोज नाटक हो रहे हैं, हर कोई जाके अपना कंट्रोल रूम में खड़ा हो जाता है, देखता रहता है, सीखता रहता है। दोपहर में लाईट सेट करना सीखता रहता है, हमारे यहाँ तो वो अपोर्च्युनिटी ही नहीं है। साल में एक बार होता है फेस्टीवल मेरा या दूसरी दो संस्थाएँ ले लें, तीन फेस्टीवल होते हैं। उसमें कितने लोग सीखते हैं? फिर वो सीखेंगे भी तो प्रेक्टिस कहाँ करेंगे? हमारे पास तो सीमित लाईट्स हैं। उसी में करना है।

जबलपुर जैसी जगह में, संक्षेप में, प्रमुख समस्याएँ क्या हैं?

दर्शकों की समस्या, वित्तीय प्रबंधन की समस्या, नाट्य प्रदर्शन के लिये भारी व्यय की समस्या, महिला कलाकारों की समस्या, प्रेक्षागृह की समस्या, सरकारी प्रोत्साहन का न होना, मीडिया द्वारा सांस्कृतिक समाचारों को प्रमुखता न दिया जाना। एक आदर्श रिहर्सल रूम का अभाव। प्रायोजकों की समस्या।

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

रंगकर्मी बहारुल इस्लाम से रफ़ी शब्बीर की गुफ्तगू

सीगल एक समुद्री परिन्दा जो खुले आसमान में अपनी उड़ान भरता है, इसी तरह सीगल थियेटर कम्पनी भी रंगकर्म के खुले आकाश में उड़ान भरते हुए अपनी अलग पहचान बना रही है। 1990 में गुवाहाटी के कुछ रंगकर्मियों ने इस थिएटर कम्पनी की स्थापना की थी जिसमें अहम भूमिका बहारूल इस्लाम और उनकी पत्नी भागीरथी की थी। थोड़े समय में ही सघन प्रशिक्षण एवं अभ्यास के द्वारा इस नाट्य समूह ने अपनी एक विशिष्ट पहचान बनाई। असमिया रंगमंच की असीमित रंग सम्भावनाओं को पहचान कर इस समूह ने रंगमंच के क्षेत्र में कई नये प्रयोग किये। उरूखा, सरायघाट, तुगलक, अभिमन्यु, परशुराम, जात्रा, आन्तिगोने, आषाढ़ का एक दिन, अ डाल्स हाउस और आकाश जैसी कई नाट्य प्रस्तुतियाँ देश भर में करके दर्शकों के दिल में अपनी जगह बनाई है। पिछले दिनों अपने नाटक आकाश के साथ यह समूह मध्यप्रदेश आया। जबलपुर के बाद भारत भवन भोपाल में नाटक प्रदर्शन हुआ। इसी दौरान सीगल थिएटर कम्पनी को बुलन्दी पर ले जाने वाले रंगकर्मी बहारूल इस्लाम से रंगकर्म पर बातचीत हुई।

थियेटर में पैसा नहीं है- यह तर्क गलत है

रफ़ी शब्बीर : बहारूल इस्लाम साहब, आपका थिएटर की तरफ रुझान कैसे हुआ?

बहारूल : अचानक। जिसे आप एक हादसा भी कह सकते हैं। मैंने कभी नहीं सोचा था कि मैं अभिनेता बनूँगा, हमारे शहर में दुर्गा उत्सव के दौरान सांस्कृतिक कार्यक्रम होते थे। जिसे मैं देखने जाता था। एक दिन उस कार्यक्रम में एक कलाकार नहीं आया तो कुछ लोगों ने मुझे मंच पर खड़ा कर दिया कि मैं लोगों का मनोरंजन करूँ और मुझे जो कुछ गाना नाचना आता था, जो मैंने दूसरे कलाकारों को देखकर ही सीखा था, वही दोहरा दिया। जिसे लोगों ने बहुत पसंद किया और इसके बाद ऐसा हुआ कि मैं जिधर से गुज़रता लोग मुझे देखकर कहते यह वो ही लड़का है जिसने कमाल का काम किया था, इस प्रशंसा ने मेरे अन्दर छिपे कलाकार को उभार दिया। मिथुन चक्रवर्ती का ज़माना था और मैं मिथुन बनने का सपना देखने लगा।

आपके इस सपने ने आपके परिवार की नींद उड़ा दी होगी।

- जी हाँ, सभी ने विरोध किया क्योंकि ऐसे सपने ज़्यादातर नौजवान देखते हैं। लेकिन मेरे पिताजी ने मेरा उत्साह बढ़ाया और कहा कि सपना देखना बुरा नहीं है मगर सपना पूरा करना बहुत कठिन है। मेरी लगन और निष्ठा देखकर उन्होंने मेरे सपने को पूरा करने में मदद भी की। आज मैं इस बात को स्वीकार करता हूँ अगर पिता का सहयोग नहीं होता तो आज मैं इस मुक़ाम तक नहीं पहुंचता।

आपने गोहाटी से नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा तक का सफ़र कैसे तय किया?

- जहाँ चाह होती है वहाँ राह भी निकल आती है, थिएटर से जुड़ने के बाद एन.एस.डी. की अहमियत भी मालूम हो चुकी थी कि वो ऐसी जगह है जहाँ थियेटर की महान हस्तियों के मार्गदर्शन में अभिनय प्रशिक्षण मिलता है और ऐसी जगह जहाँ से आज के थियेटर के कई महान रंगकर्मियों को पैदा किया है। इसी दौरान मेरे टीचर करुणा डेका ने मेरे उत्साह को बढ़ाते हुए एन.एस.डी. जाने का मशविरा दिया। मैं बहुत भाग्यशाली हूँ कि पहले ही साल मेरा चयन भी हो गया।

ऐसा कहा जाता है कि अभिनय जन्मजात होता है इसे प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं होती है, क्या आप इस विचार से सहमत हैं?

- मेरे विचार में अभिनय जन्मजात होता है मगर प्रशिक्षण उसे सम्पूर्णता देता है। मैं स्वयं का ही उदाहरण दे सकता हूँ कि मैं अभिनय के महत्व और सूक्ष्म बिन्दुओं से प्रशिक्षण के बाद ही परिचित हुआ हूँ। क्योंकि हम अपने प्रदेश की कला और संस्कृति के दायरे में रहते थे मगर एन.एस.डी. आने के पश्चात् हमें देश के ही नहीं बल्कि विश्व के रंगमंच को देखने समझने का अवसर मिला। जो हमारे विचारों को बदल देता है। इसलिये मैं इस बात को मानता हूँ अच्छे अभिनय के लिये प्रशिक्षण आवश्यक है। इसलिये हमारी थियेटर कम्पनी प्रशिक्षण कार्यक्रम चलाती है।

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

सिनेमा में कलाकार के लिये एक सीमा निर्धारित होती है मगर रंगमंच पर ऐसी कोई सीमा निर्धारित नहीं होती। एक खुला आकाश मिलता है और आप अपनी मर्ज़ी से उड़ान भर सकते हैं।

फिल्म और टी.वी. में पहुँचने के लिये थियेटर एक शॉर्टकट बन गया है। प्रशिक्षण के पश्चात् रंगकर्मी मुम्बई जाता है, क्या आपने भी ऐसा ही क़दम उठाया था?

- नहीं, मगर ज़्यादातर लोग यही करते हैं और मेरे दिल में पहले ही मिथुन बनने का सपना भी छिपा था, मगर एन.एस.डी. में प्रशिक्षण के दौरान ही यह आभास हो गया था कि रंगकर्म में जो ताकत है वो समाज पर अलग प्रभाव रखती है। इसी विचार ने मुझे मुम्बई जाने से रोका और रंगकर्म के प्रति स्वयं को समर्पित करके मैंने तारा आर्टस् लन्दन में काम करना बेहतर समझा। इस तारा ग्रुप के साथ मैंने यु.के. और जापान में लगभग 56 शो किये जो सफल भी रहे मगर मानसिक रूप से मेरे अन्दर का कलाकार ख़ुश नहीं था। इसलिये मेरे मन में अपने देश प्रदेश के लिये कुछ करने की चाहत जागी और यही चाहत मुझे गोहाटी वापिस खींच लाई।

क्या आप इस बात से सहमत हैं कि अच्छे रंगकर्म के लिये सिनेमा एवं टी.वी. से दूरी आवश्यक है?

- बिल्कुल नहीं, क्योंकि सिनेमा व टेलीविजन भी एक सशक्त माध्यम है और मैंने भी कुछ फिल्म और टी.वी. में काम किया है?

आपकी फिल्मों के बारे में कुछ बतायें?

- बतौर एक्टर मैंने कई असमिया फिल्मों के साथ हिन्दी और कन्नड़ फिल्में की हैं, एम.एस. सत्थु की फिल्म 'कोन्डा' में लीड रोल किया है। एक असमिया फीचर फिल्म 'आसाने कुन्बा हियात' का निर्देशन किया है। एक लघु फिल्म 'रानी गाडगाईक' का निर्देशन किया, इस फिल्म के निर्माता गिरीश कर्नाड जी हैं और कुछ वृत्तचित्र भी बनाये हैं।

सिनेमा से जुड़ने के बाद रंगकर्म को लाभ होता है, जैसे फिल्म से जुड़ा रंगकर्मी नाट्य करता है तो उसके नाम से एक नया दर्शक रंगकर्म से जुड़ता है। इस बारे में आपके क्या विचार हैं?

- मेरा इस बारे में नज़रिया कुछ अलग है कि सिनेमा से जुड़े रंगकर्मी के साथ सिनेमा का ग्लैमर जुड़ जाता है। तब दर्शक उसे उसी नज़र से देखता है जो कलाकार के लिये बहुत आसानी पैदा कर देता है क्योंकि वहाँ अभिनय की गुन्जाईश ख़त्म हो जाती है। मगर जिस कलाकार को दर्शक नहीं जानता और वो कलाकार अपने अभिनय के बलबूते पर दर्शकों को आकर्षित कर ले वो कठिन ज़रूर है मगर कलाकार की सही परख वहीं होती है और रंगकर्म की सफलता भी है।

आप रंगकर्म के साथ सिनेमा से भी जुड़े कलाकार हैं, बतौर कलाकार आपने सिनेमा और रंगकर्म के मध्य क्या अन्तर पाया?

- सिनेमा में कलाकार के लिये एक सीमा निर्धारित होती है मगर रंगमंच पर ऐसी कोई सीमा निर्धारित नहीं होती। एक खुला आकाश मिलता है और आप अपनी मर्ज़ी से उड़ान भर सकते हैं। अगर आप रंगकर्म से सिनेमा में गये कलाकारों की समीक्षा करें तो एक बात खुलकर सामने आती है कि ज़्यादातर कलाकार किसी भूमिका के लिये टाईप्ड हो चुके हैं और वो चाहकर भी उससे बाहर निकल नहीं सकते क्योंकि कई बन्धन हैं मगर रंगमंच में ऐसा कोई बंधन नहीं होता, कलाकार अपनी भूमिका ख़ुद चुनता है और उसमें समय अनुरूप परिवर्तन भी करता है और जिसकी अच्छी बुरी प्रतिक्रिया भी उसे तुरन्त मिल जाती है।

मगर थिएटर में पैसा नहीं है, यही कारण है कि रंगकर्मी सिनेमा की तरफ जाता है।

- आज यह तर्क बेबुनियाद है। आज थियेटर में भी पैसा है। एक प्रोडक्शन के लिये आपको एक से डेढ़ लाख अनुदान मिलता है, मगर कुछ लोग सिर्फ दस हज़ार ख़र्च करते हैं और यह बात कहते हैं कि थिएटर में पैसा नहीं मिलता, यह तर्क रंगमंच को भी नुकसान पहुँचाता है। जबकि सच्चाई यह है कि आज दर्शक पैसा देकर नाटक देखने आता है। मगर जब आपका प्रोडक्शन ही अच्छा नहीं होगा तो कोई उसे नहीं देखता। तब ऐसी बातें फैलाई जाती हैं। ऐसे लोग न अपने नाटक में सेट लगाते हैं और न ही पब्लिसिटी करते हैं और न ही कलाकार को कुछ देते हैं। ऐसे ही कुछ लोगों की वजह से यह तर्क चल रहा है।

आप बंगला और मराठी रंगमंच की दृष्टि से यह बात कर रहे हैं जबकि हिन्दी रंगमंच की स्थिति विपरीत है, हिन्दी रंगमंच के समक्ष अनेक समस्याएँ हैं।

- मैं जिस रंगमंच की बात कर रहा हूँ उसमें सभी प्रदेशों का रंगमंच शामिल है। हिन्दी प्रदेशों की तुलना में आसाम तो बहुत छोटा क्षेत्र है। यहाँ भी वैसी समस्याएँ थीं मगर हमने ऐसा रंगमंच तैयार किया है कि हमारे वीक एंड थियेटर में दर्शक टिकट लेकर आता है। अगर हम आम जीवन की साधारणता और सहजता को सुन्दरता से

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

दर्शकों के सामने प्रस्तुत करेंगे दर्शक तो पैसा ख़र्च करके थियेटर देखने ज़रूर आयेगा। मनोरंजन की आशा लेकर आये दर्शक के सामने बोझिल प्रस्तुति देंगे तो वो दूसरी बार आने में विचार करेंगे, मैंने भी हिन्दी नाटक किये हैं जिन्हें दर्शकों ने सराहा है, लेकिन हिन्दी रंगमंच की जो समस्या है वो ख़ुद रंगमंच के लोगों ने बनाई है कि वो नये प्रयोग से डरते हैं। जबकि हिन्दी साहित्य में अनेक लेखक हैं जिनकी कृतियों की तरफ देखा भी नहीं गया है। जैसे मुझे निर्मल वर्मा बहुत प्रिय हैं मगर उनकी कई रचनाएँ रंगमंच के लिये अछूती हैं। जिन पर काम करने की सम्भावनाएँ हैं और आज जिस नये दौर में रंगमंच आ गया है वहाँ जो भी लीक से हटकर काम करेगा वो सराहा जाएगा, वो किसी भी प्रदेश का रंगमंच हो।

रंगकर्म से सामाजिक चेतना जाग्रत होती है। आप जिस प्रदेश से जुड़े हैं वो आज साम्प्रदायिक दंगों के कारण चर्चा में है। क्या आपने रंगकर्म के माध्यम से सद्भावना जाग्रत करने का प्रयास किया?

- जो परिस्थिति आपको नजर आ रही है, वैसी स्थिति आसाम की नहीं बल्कि मैं तो यही कहूँगा कि यह सब राजनीति साज़िश है जिसे बढ़ा चढ़ाकर दिखाया जा रहा है। मैं रंगकर्म के माध्यम से नहीं बल्कि एक आम नागरिक की हैसियत से हमेशा सद्भाव का पक्षधर रहा हूँ। सद्भावना, समानता हमारे प्रदेश की पहचान है। भूपेन हज़ारिका हमारे आईकॉन हैं। यह बात बहुत कम लोग जानते होंगे कि हज़ारिका सरनेम यहाँ सभी धर्म के लोग लगाते हैं। यह हमारी समानता की अनूठी मिसाल है।

आपने कुछ किताबें भी लिखी हैं। उन किताबों के बारे में कुछ बतायें?

- मेरी अब तक पाँच किताबें प्रकाशित हो चुकी हैं। मेरी पहली किताब 'एकान्त मोने रे' मेरे लेखों का संग्रह है। ये वो लेख हैं जो समाचार पत्र और पत्रिका में प्रकाशित हो चुके थे। मेरी दूसरी किताब 'सीमार सिपारे' (सीमा के उस पार) एक नाटक है। मेरी तीसरी किताब 'बियोन्ड द ओबिअस' मेरे नाटक का अंग्रेजी रूपान्तरण है। मेरी चौथी किताब 'खिड़की खुली है' जिसमें मेरे दो नाटक सम्मिलित हैं, अभी कुछ दिन पहले मेरी पाँचवी किताब का विमोचन वरिष्ठ रंगकर्मी गिरीश कर्नाड ने किया है जिसका नाम है 'किसु कथा किसु नाटक' हैं। जिसमें मेरे लिखित पाँच नाटक हैं, जिसमें नाटक के साथ उनकी रूपरेखा के बारे में भी लिखा है। इसके साथ मैं एक स्थानीय अख़बार में रोज़ाना समसामयिक विषयों पर कॉलम लिखता हूँ।

आप युवा रंगकर्मियों को क्या सन्देश देना चाहेंगे?

- थिएटर सिनेमा का शार्टकट नहीं है बल्कि रंगकर्म एक बहुत ताक़तवर माध्यम है, जिसके द्वारा स्वयं को और देश को बदला जा सकता है। रंगकर्म एक आन्दोलन है जिसे जारी रहना चाहिये।

सुधियाँ

ऐसे थे हम सबके भैयाजी

प्रेमशंकर रघुवंशी

हमारे अँचल में बड़े भाई को दादा या भैयाजी कहते थे। अब भी ज्यादातर इसी संबोधन का प्रचलन है। मेरे पिता घर में सबसे बड़े थे तो उन्हें मेरे तीनों काका और बुआ भैयाजी कहकर पुकारते। हमारी पीढ़ी ने भी इसी तरह से पुकारना शुरू कर दिया तो वे हमारे भी भैयाजी हो गये। माँ को बाई कहते। वे ज्यादातर मामा-नाना के घर रहती थीं जहाँ उन्हें बाई कहकर पुकारते थे तो हम भाई बहन भी बाई कहने लगे। यदि वे ज्यादातर जमानी गाँव में रहतीं तो हम लोग जो परिवार वालों से उनको पुकारने का संबोधन सुनते, वही कहने लगते। वहाँ ज्यादातर लोग उन्हें बड़ी भाभी कहते थे। यह सुनकर हम भाई बहन भी बड़ी भाभी कहने लगते। पहले माता-पिता को मम्मी-पापा कहने के कोई संस्कार नहीं डाले जाते थे। बच्चे जो अपने परिवार वालों से उनके संबोधन सुनते वही वे भी अपना लेते थे। प्रायः संयुक्त परिवार होते थे और संयुक्त संबोधन इन्हीं की देन थे।

भैयाजी के पिताजी छन्नूलालजी को लोग बाबूजी कहते थे। वे भी गुरुजी (शिक्षक) थे। इसलिए कि उनके पिता श्री भोलू भी गुरुजी थे और उनके बड़े बेटे (यानी मेरे पिता कुँजीलालजी उर्फ भैयाजी) भी गुरुजी ही थे। शिक्षक मैं भी हुआ और मेरा बेटा राजेश भी शिक्षा विभाग में कार्यरत है। हमारी पाँच पीढ़ियों तक शिक्षकीय संस्कार हैं। मैंने अपने दादाजी (उर्फ बाबूजी) को खूब-खूब देखा था। मैं तब शायद पाँच-छः साल का रहा होऊँगा जब उनका देहावसान हुआ था। मुझे आज भी उनका गाँधीजी जैसे लोगों से मिलता चेहरा और लगभग हर वक्त सफेद गाँधी टोपी से सजा सिर याद है। उनके पास उनके जैसे कई लोग, बाहर से आकर कुछ दिन रहते थे जिनको वे मेहमानों की तरह रखते थे। बाद में पता चला कि वे लोग हमारे देश को आजाद कराने वालों की टोली के लोग होते थे जो पुलिस से बचकर गाँव-गाँव स्वतंत्रता की चेतना जगाने का काम इस तरह से गुप्त रहकर करते थे। दादाजी की मृत्यु के पश्चात् भी कुछ दिनों तक इसी तरह के लोग आते रहते जिन्हें दादी (आजी माँ) सम्मान के साथ अतिथियों जैसा रखतीं। हमें दादी से गाँधी बब्बा और सुभाष चन्द्र बोस तथा नेहरू के नाम का पता चला। गाँव में ऐसे दो एक परिवार और थे जिनके यहाँ ऐसे लोग गुप्त प्रवासी की तरह रहते थे।

आज जब मैं यह सब याद कर रहा हूँ, तो सोच रहा हूँ कि आजादी के संघर्ष में संलग्न इस तरह के लोगों का तो कहीं उल्लेख तक नहीं है ना

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

ही किसी इतिहासकार ने आजादी की संघर्ष गाथाओं में ऐसी प्रवृत्तियों पर प्रकाश डाला है जो साधारण दिनचर्या के मध्य असाधारण सहयोग कर रही थीं। अन्यथा गांव-गांव सन् सत्तावन की स्वाधीनता के प्रतीक बने कमल और रोटी प्रतीक रूप में किस तरह पहुँच पाते। स्वतंत्रता संग्राम को बल देने वाली इस तरह की अनेक गुप्त धाराएँ सक्रिय थीं जिनसे मूल धारा को अखंड प्रवाह मिलता रहा। वनफूलों की चर्चा जब स्वयं वन ही नहीं करता तो संभ्रांत मैदानों से अपेक्षा करना व्यर्थ है और वन में नाचा मोर किसने देखा? जैसी प्रश्नाकूल लोक कहावतें अपने इतने से अर्थ संकेत में ही मस्त हैं तो कोई क्या करे। मैं भी इतना क्यों लिख गया, यह स्वयं ही समझ में नहीं आ रहा है जबकि संस्मरण तो भैयाजी पर लिखना है मुझे। और उन पर अब तक कुछ भी नहीं कहा है। उन पर इतना कहा जाना मुझे इसलिए अवान्तर नहीं लग रहा है कि भैयाजी के व्यक्तित्व का निर्माण उनके इसी पैतृक परिवेश में हुआ था। अन्यथा वे एक साधारण आदमी की तरह शायद ही जीवन यापन कर पाते। उनकी साधारणता ने उनसे जो काम कराये उनसे पारिवारिक (और कई मायनों में सामाजिक भी) परिवेश का पर्यावरण चोखा बना रहा। हवा, पानी, प्रकाश की तरह संस्कारवान रहा उनका साधारणपन।

आज जब यह संस्मरण दिनांक आठ अप्रैल 2012 को लिख रहा हूँ तब मेरी सन्तानवे वर्षीय माँ पूर्णतः स्वस्थ अवस्था में मेरे पास ही बैठी हैं। जिसे अब भी रामचरित मानस की अधिकांश चौपाइयाँ, दोहे और छन्द कंठस्थ हैं। जिनसे गांव और परिवार के बारे में कुछ भी पूछो तो उन्हें अब भी कुछ कुछ याद है कि दस ग्यारह साल की उम्र में शादी हो जाने के बाद उन्होंने अपनी ससुराल और पिताजी के साथ रहते हुए क्या क्या देखा सुना। पिताजी का देहावसान सन् 1985 को हो गया और गांव (जमानी बैंगनिया) को छोड़े तो कोई आधी सदी हो गई। इसलिए वे ज्यादातर प्रसंग भूल गई हैं। फिर उन्हें याद दिलाने वाली उनकी उम्र का कोई भी न तो जमानी में बचा है, न उनके मायके (गांव तोरानिया) में। वे जितना बता पाती हैं वही आधार मान लेता हूँ। आज ही मैंने उनसे पूछा कि हमारे कितने भाई बहन पैदा होते ही या पैदा होने के कुछ दिनों बाद मर गये। इस सवाल के जवाब में वे एक दो तीन चार करती रहीं लेकिन सही संख्या नहीं बता पाईं। जबकि हम तीन भाई और दो बहनें अब भी अपने अपने परिवारों के साथ हैं। कुछ दिनों पूर्व एक भाई और एक बहन इस संसार को छोड़ गये और हम दो भाई एक बहन हैं लेकिन परिवार पाँचों के हैं। मैं परिवार में सबसे बड़ा हूँ और चौहत्तर साल का हो चुका हूँ। यदि इस तरह के संस्मरण या गांव के जीवन, समाज, आचार-विचार पर लिखने का पचास साल पहले मन होता तो काफी काम कर लेता। वह सब काल के गाल में समा गया। अब सूझा तो पिता पर इस संक्षिप्त संस्मरण के निमित्त उनके उस काल और उस परिवेश को हल्का-सा ही स्पंदित कर पाऊँगा।

मैं जब पैदा हुआ (8 जनवरी 1936 को) तब पिताजी अंग्रेजी काल में शिक्षकों के आन्दोलन में अंग्रेजी हुकूमत के विरुद्ध षड्यंत्र करने वाले मानकर नागपुर जेल में थे। जहाँ से कोई पन्द्रह-बीस दिनों बाद छोड़े गये थे। जेल से छूटकर वे सीधे गंगा स्नान करके घर लौटे थे। माँ इस घटना को अब भी चाहे जब हम भाई बहनों को सुनाती हैं। माँ नहीं होतीं तो हम यह घटना भी नहीं जान पाते क्योंकि तब अंग्रेजी सत्ता के ख़िलाफ इस तरह की टकराहट आम बात थी और आज का माहौल है जिसमें ज़रा-ज़रा सी वारदात को शहीदाना अंदाज़ में पेश किया जाने लगा है जिसमें मीडिया का बड़ा हाथ होता है और उससे भी बड़ा हाथ होता है राजनीति का। तब बड़ी से बड़ी बात लोक चर्चा होकर रह जाती थी। उदाहरण के तौर पर चतरखेड़ा गांव (सिवनी मालवा, होशंगाबाद, म.प्र.) की एक घटना बता दूँ। चतरखेड़ा में एक परिवार है जो देशमुख परिवार के नाम से जाना जाता है। इस परिवार के प्रपिता के पिता गांव से कोई चार किलोमीटर दूर सिवनी मालवा जाकर अंग्रेजी तहसीलदार का सिर काटकर अपने गांव ले आये थे और उसे अपने खेत की मेड़ पर लगे पेड़ पर टाँग दिया था जिसे चील कौओं ने नोंच नोंचकर खाया और जब पकड़ने अंग्रेजों की पुलिस का दल आया तो उसने उनके हाथों मारे जाने से पहले अपने हाथों अपनी गर्दन काट ली थी। आज भी खेत में उनकी समाधि बनी है जिसे देशमुख बाबा की समाधि कहा जाता है। उस समाधि में दफन उस परमवीर के स्वाभिमान की वह गाधा अब गांव के एकाध बुजुर्ग ही जानते होंगे कि उसने आखिरकार उस अंग्रेज अधिकारी का सिर काटकर अपने खेत की मेड़ वाले पेड़ पर क्यों लटकाया था। वह इसलिए लटकाया था कि वह वीर पुरुष अपने खेत का नाम अपनी पत्नी के नाम कराना चाहता था जिसकी वजह से वह नामांतरण के कागजों पर अँगूठा लगवाने के वास्ते अपनी पत्नी को भी तहसीलदार के सामने उसकी इजलास में ले गया था। अंगूठा लगवाते वक्त जब तहसीलदार ने उस स्त्री को देखा तो वह उसके सौन्दर्य पर इतना असक्त हो गया कि देशमुख बाबा के पास उनकी औरत को रातभर के लिए पेश करने का संदेश भिजवा दिया। संदेश सुनते उन्होंने संदेश वाहक को यह कहकर लौटा दिया कि साहब से कह देना मैं खुद उनके लिए उनका तोहफा पूरी हिफाजत के साथ लेकर हाजिर होऊँगा। संदेश वाहक के वापस जाते ही देशमुख बाबा ने अपनी तलवार निकाली और किसी को बिना कुछ बताये सिवनी मालवा की तहसील में जा पहुँचे। जहाँ अंग्रेज तहसीलदार उसकी प्रतीक्षा में था। देखते ही खुश हो गया कि तभी देशमुख बाबा दनदनाता हुआ उसके पास जा पहुँचा और उसकी गर्दन पर तलवार का ऐसा वार किया कि वह धड़ से दूर जा पड़ी। लोग समझ ही नहीं पाये कि इतने आनन फानन में यह क्या हो गया। तब तक देशमुख बाबा उस अंग्रेज अफसर का सिर लेकर वहाँ से भाग गया। गांव आकर उसने वह सिर अपने उसी खेत की मेड़ वाले पेड़ पर टाँग दिया जिसका नामांतरण वह अपनी पत्नी के नाम पर कराना चाहता था। गांव वालों को पता ही नहीं चला कि तब तक देशमुख बाबा को गिरफ्तार करने के लिए पुलिस दल आ गया। गांव में भगदड़ सी मच गई। अंग्रेजी राज में पुलिस का भयानक भय होता था। अब तक गांव वालों को देखमुख बाबा का कृत्य पता लग गया था। सब सकपकाये से थे कि तभी शेर की तरह दहाड़ते हुए देशमुख बाबा ने अपने हाथों अपना गला यह कहते हुए काट लिया कि दुश्मनों के हाथों तो नहीं ही मरूँगा, लो ये लो और अपनी जीवन लीला समाप्त कर ली। इस तरह की बाल लीलाओं के किस्से आज भी गांवों के एकाध बुजुर्गों से इस क्षेत्र में सुने जा सकते हैं। लेकिन ये बलिवेदी के पुष्प न तो इतिहास के अंग हो सके, न किवदंती के रसायन बन सके। काश अब भी कोई जिज्ञासु इन मूक बलिदानों को प्रकाश में लाने का प्रयास कर सके तो मातृभूमि के स्वाभिमान पर शीश चढ़ाने

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

आज जब मैं यह सब याद कर रहा हूँ, तो सोच रहा हूँ कि आज़ादी के संघर्ष में संलग्न इस तरह के लोगों का तो कहीं उल्लेख तक नहीं है ना ही किसी इतिहासकार ने आजादी की संघर्ष गाथाओं में ऐसी प्रवृत्तियों पर प्रकाश डाला है जो साधारण दिनचर्या के मध्य असाधारण सहयोग कर रही थीं। अन्यथा गाँव-गाँव सन् सत्तावन की स्वाधीनता के प्रतीक बने कमल और रोटी प्रतीक रूप में किस तरह पहुँच पाते।

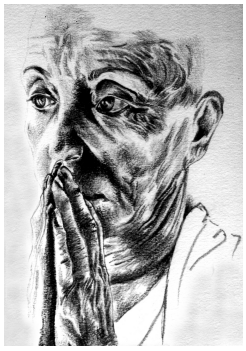

वालों की तरह ही त्यागपूर्ण भावनाओं के महत्व का ख़जाना सम्पन्न किया जा सकता है। लेकिन मुझे लगता नहीं कि आज की हल्की फुल्की राजनीतिक स्वार्थ साधना के वातावरण में कोई ऐसा काम कर पाये, कि जिसे काके कहना मिले।

भैयाजी पर बात करते हुये देशमुख बाबा की आवांतर गाथा इसलिये यहां सहज रूप में आ गई कि यदि माँ नहीं होती तो मुझे भैयाजी की नागपुर जेल यात्रा का पता ही नहीं होता और चतरखेड़ा में दो चार बुजुर्ग न होते तो देशमुख बाबा की स्वाभिमानी भावना का प्रसंग नहीं सुन पाता। यह काम पहले गांव की प्रेरक गाथाओं को अपने लोक कंठों में हरबोले संजोकर रखते रहे हैं। अब वे भी नहीं रहे और हम भी वो नहीं रहे कि अपने पूर्वजों की गौरव गाथाओं को सत्य का सिंहासन दे सकें। सुभद्रा कुमारी चौहान ने वीरांगना लक्ष्मीबाई पर कविता लिखते हुए बुंदेले हरबोलों से सुनी गाथा का काव्यान्तरण ही तो पेश किया है। जब 1857 के स्वतंत्रता संग्राम की महानायिका का प्रामाणिक इतिहास इतने वर्षों बाद भी सुभद्रा कुमारी जैसी स्वाधीनता संग्राम में रत कवयित्री को नहीं मिला तो उन्होंने बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी की प्रामाणिकता के साथ लक्ष्मी बाई की शौर्यगाथा का गायन किया। जिसकी एक-एक पंक्ति में अकाट्य ऐतिहासिक सत्य निहित है, चाहे वह घोड़ा अड़ा नया घोड़ा था। या रानी एक शत्रु बहुतेरे जैसी पंक्ति हों या अंग्रेजों के मित्र सिंधिया ने छोड़ी राजधानी थी जैसी उक्ति हो। इतिहास की आँखें जब एक ही दिशा में देखने लगती हैं तब ये लोकगायक दसों दिशाओं पर नजरें डालते हुए पेड़ों की छुगनी तक चढ़कर सच्चा इतिहास उचारते हैं। जब इतिहास का दूध फटकर फेंकने योग्य हो जाता है तब ये लोक व्यक्तित्व अपने हाथों लोक मथानी से इतिहास का नवनीत निकालकर लोक जीवन में ऐतिहासिक दृष्टि का विस्तार करते हैं। इतना कहना आवश्यक और प्रासंगिक लगा। अब भैयाजी को सघनता से याद करने की प्रबल इच्छा प्रकट करना ठीक लग रहा है।

यह तो मैं कह ही चुका हूँ कि मेरे जन्म के वक्त पिताजी नागपुर जेल से छूटने के बाद गंगा स्नान कर घर लौटे थे। घर लौटते ही वे सबसे पहले अपने मित्र राम दयालजी चतुर्वेदी (अनुज, पं. माखनलाल चतुर्वेदी) से मिले जो सिवनी मालवा से शिक्षकों के आन्दोलन का नेतृत्व कर रहे थे। वे शिक्षकों का आन्दोलन और उग्र हो, इसकी रूपरेखा बना रहे थे कि तभी शिक्षकों की बातें मान ली गईं। भैयाजी अपनी कर्मस्थली बाबड़िया पहुँचकर अपने अध्यापन कार्य में लग गये। जब तक मैं दो एक माह का हो गया था तो भैयाजी माँ को बाबड़िया ले आये। उन दिनों बाबड़िया की रामलीला बहुत प्रसिद्ध थी। रामजन्म से लेकर अयोध्या वापसी तक की पूरी कथा कोई पन्द्रह दिनों तक चलती थी। रामलीला के सारे पात्र बाबड़िया, पगढाल, शिवपुर आदि गांवों के लोगों में से छाँटकर होते थे। स्त्रियों में दशरथ का पाठ करते थे। जेल से लौटकर आने के बाद वे रामलीला को लेकर बहुत ही उत्साहित थे। इसकी दो वजह थीं। पहली यह कि इस साल रामजन्म की लीला में दशरथ का पार्ट अदा करते हुए उनको बालक राम की खोज के लिए कहीं नहीं जाना होगा क्योंकि मैं उस पात्र के लिए योग्य था। बालक राम को पालने में झुलाना भर है या पिता की गोद में बैठना है। भये प्रकट कृपाला दीन दयाला कौशल्या महतारी वाले छन्द गायन तक के सम्पूर्ण अभिनय के वक्त का एक आकर्षक दृश्य होता है राम जन्म के प्रसंग का।

दूसरी वजह थी जेल से अनुभूत की गई भारत माता की जय की अनुगूँज का रोमांचक चमत्कार पैदा करने का। मेरे काव्य संग्रह 'पकी फसल के बीच' में एक लंबी कविता 'माँ कहती है कि...' शीर्षक से है। मेरी वह कविता ही इस संस्मरण का आधार है बल्कि उस कविता में इससे ज्यादा संस्मरणों का कलेवर है। उसी कविता से उक्त दोनों वजहों के सन्दर्भ को राग भाव से प्रेषित करता यह अंश देखिये... और उस दिन तुझे/राम बनाया था मेरे मुन्ना/माँ कहती है/ तब झंगा टोपी पहने/ठुड्डी पर डिठौना लगाये तू/तुलसी बाबा के इष्ट देव मम बालक रामू जैसा लग रहा था रे/जैसे ही राम जन्म की बिरियाँ/भये प्रकट कृपाला की आरती हुई/वैसे ही तेरे भैयाजी ने/तुझे गोद में लेकर इतना चूमा था/कि उस भावलोक में सरावोर पूरा दर्शक समाज/दशरथ मय हो गया था/और तू भी अँगूठा चूसते हुए/किलक किलक हँसता रहा था/माँ कहती है- बेटा आज भी/उस दृश्य को याद करते हुए लोग/क्षण भर को समाधि में डूब जाया करते हैं/माँ कहती है- वात्सल्य का छककर पान करते हुए/दर्शकों ने उस वक्त/दशरथ और राम की जय जयकार के साथ/भारत माता की डटकर जय जयकार की थी/और धरती आसमान को/जय जयकार की समवेत ध्वनियों से पाट दिया था/और हरेक ने अपने अंदर भरपूर आजादी का अहसास किया था।'' यह आचरण था भैयाजी का कि या तो समाज में सांस्कृतिक, सामाजिक भावना को जगाते रहने वाले काम करते रहो या गांव की बाल पीढ़ी को अध्ययन में लगा के रखो। देश सेवा या समाज सेवा का इससे बड़ा रूप और क्या हो सकता है? रामलीला जैसे समारोह द्वारा वे राम राज्य के साथ स्वाधीन भारत के भाव भरते रहे। पहला भाग वह होता जिसमें वे अपने शिष्यों को मातृभाषा का ज्ञान कराते। इसके लिए वे शुद्ध लेखन, नकल लेखन से लेकर पाठ

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

जब इतिहास का दूध फटकर फेंकने योग्य हो जाता है तब ये लोक व्यक्तित्व अपने हाथों लोक मथानी से इतिहास का नवनीत निकालकर लोक जीवन में ऐतिहासिक दृष्टि का विस्तार करते हैं। इतना कहना आवश्यक और प्रासंगिक लगा। अब भैयाजी को सघनता से याद करने की प्रबल इच्छा प्रकट करना ठीक लग रहा है।

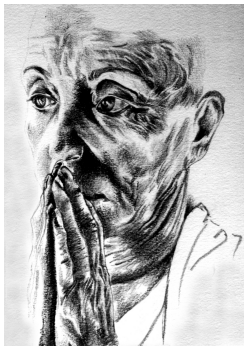

याद कराने तक का काम करते और सुलेख पर ध्यान रखते। वे जब काली स्याही में बर्रू की सींक डुबोकर अक्षर लिखते-लिखवाते तो लगता कि छापेखाने के छपे अक्षर हों। रीडिंग हेबिट का निरंतर ध्यान रखते और गणित के तो ऐसे ऐसे सूत्र बताते कि चौथी कक्षा तक का विद्यार्थी लाखों करोड़ों का मौखिक हिसाब लगा देता। पहाड़ों के साथ पौआ, अद्धा, पोन्या, सवइया, डेवड़या, ढोंच्या, ऊँच्या, अढ़इया, पुनतिन्या और सवातीन्या तक रटा देते। गणित के ऐसे ऐसे गुर (सूत्र) बताते कि उलझा से उलझा गणित का हिसाब किताब चुटकियों में हल हो जाए। पढ़ाते वक्त वे सहृदय, कठोर, प्रसन्न चित्त, क्रोधी, पीठ सहलाने वाले और पीठ पर मुक्का मारने वाले सारे मूडों में होते। कोई उनसे खूब पिट जाता तो कोई खूब स्नेह पा लेता। पढ़ाने के अलावा दूसरा काम होता शाला की सफाई का। शाला के मैदान में पौधे लगाना, उन्हें पालना, पशुओं से बचाना, पीने के पानी का प्रबंध करना, बच्चों की शारीरिक सफाई का ध्यान रखना आदि। तब बच्चों को सफेद टोपी पहनना अनिवार्य था। भैयाजी सप्ताह में एक बार गांव के किसी एक मोहल्ले में बच्चों के साथ सफाई का काम करते। खेल कूद के लिए उनका समय तय था। उस वक्त वे खुद बच्चों के साथ मैदान में होते।

जब मैं कोई पाँच साल का हो गया तब उनका बाबड़िया से नाहरकोला गाँव में ट्रांसफर हो गया। जहाँ भी कोई नया स्कूल खोलना हो या किसी स्कूल को व्यवस्थित करना हो वहाँ भैयाजी को भेजा जाता। तब स्कूल जनपद के या लोकल बोर्ड के अधीन होते थे जिनके अध्यक्ष और कर्ताधर्ता माखनलाल चतुर्वेदी के अनुज रामदयाल चतुर्वेदी हुआ करते थे। जो पिताजी के मित्र थे ही, वे उनकी क्षमता को भी जानते थे और उनके सामाजिक राष्ट्रीय भाव से भी वाक़िफ़ थे। एक साल में जब नाहरकोला का स्कूल ठीक ठाक हो गया तो रामदयाल जी चतुर्वेदी ने उन्हें जमानी बैंगनिया भेज दिया। अब हम लोग अपने गांव आ गये। दादा, दादी के साथ सामूहिक परिवार के वातावरण का आनंद अलग ही होता। यहाँ आकर भैयाजी गुरुजी और किसान एक साथ हो गये। वह आजादी के संघर्ष का चरमकाल था जिसमें स्कूलों की भूमिका जनजागृति की दृष्टि से भरपूर थी। सुबह छः बजे तिरंगा झंडा हाथ में लेकर झण्डा ऊँचा रहे हमारा गीत गाते हुए प्रभात फेरी निकाली जाती। स्कूल में आकर झण्डा गीत का अर्थ समझाया जाता। स्कूल की सफाई होती और सब घर आकर नहा धोकर, खा-पीकर फिर दिनभर के लिए स्कूल के हो जाते। हमारे स्कूल में आसपास के आठ-दस गांवों के लड़के पढ़ने आते। भैयाजी के सिवाय एक गुरूजी और थे। उनका नाम खयालीराम था। वे खूब मारते थे। वे पास के गांव पीपलिया से आते थे। तब गुरुजी सचमुच में गुरुजी होते थे। उनमें अनुशासन और संयम देखने लायक और अनुकरणीय होता था। पिताजी स्कूल के बाद घर का काम भी करते। तब बोबनी और कटनी की छुट्टियाँ होती थीं। भैयाजी दिन रात बोबनी के काम में लगे रहते थे। कटाई के दिनों में तो खेतों में जब तक अनाज की पूलियाँ खलिहानों तक न आ जायें, खेत में ही चौबीसों घंटे रहते थे। तब हमारी खेती काफी लंबी चौड़ी थी। दादी के डाक्टर भैया की खेती भी हमारे ही सुपुर्द थी। दो खलिहानों में दावन और उड़ावनी चलती थी। पशु भी काफी थे। पचास से ऊपर। दो तीन दुधारू भैसें और पाँच-सात दुधारू गायें बारहों माह रहते। रोज ताजा मली, मक्खन, घी होता और ज्यादातर इनसे ही भोजन होता। दाल घर की होती। तुअर खूब होती थी। उसी की दाल घर में बनाई जाती। चने की भी। तिल्ली भी अच्छी होती जिसका तेल गांव में ही तेली दादा की पेरनी (धानी) से निकलवा लेते थे। घर का हर आदमी काम में लगा रहता और काम करने वालों की भी कमी नहीं थी। दादी तो अद्भुत थीं हमारी। उन पर तो अलग से संस्मरण इसी ग्रंथ में झूलावाली बऊ के नाम से है ही। घर की मुखिया वे ही थीं। पिताजी के वेतन से लेकर गल्ला पानी के विक्रय का सारा पैसा उनके पास ही होता। वे ही सबका हिसाब किताब करतीं। मजदूरों को काम के बदले मजदूरी में अनाज दिया जाता था। घर में काम करने वाले मजदूरों और परिवार के लोगों में व्यवहार की दृष्टि से ऊँच-नीच का भाव बिल्कुल नहीं था जबकि गांव में छुआछूत ऊँच नीच का अमानवीय व्यवहार कहीं कहीं था। हमारे परिवार पर गाँधीजी का और स्वतंत्रताकर्म में लगे लोगों के आने जाने के कारण, उनका मानवीय असर ज्यादा था। किसी भी काम करने वाले बरसूद्या या पारख्या के यहाँ कोई कारज होता, दादी उनके यहाँ पहले पहुँचतीं। गांव के लोगों से भी हमारे परिवार का यही भाव था। इस कारण हमारे यहाँ दिन रात लोगों का आना जाना बना ही रहता। दादी का अपना स्वभाव और उनके व्यक्तित्व का लोक अद्वितीय था। माँ और छोटी काकी घर का सारा काम करतीं। चौका-बासन, झाड़ना, बुहारना, पानी भरना, रोटी बनाना यानी बहुत सारे काम होते। हम बच्चे भी अपने अपने काम में लगे रहते।

चार साल बाद भैयाजी का तबादला शिवपुर हो गया। मैं अब तक जमानी में तीसरी पास कर चुका था और मुझसे छोटे भाई गणेश का जन्म हो चुका था। हम दोनों भाई खूब खेलते और प्यार से रहते। शिवपुर मिडिल स्कूल था। यहाँ गाँधीजी की शिक्षा पद्धति के अनुसार

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

पढ़ाई लिखाई और सूत कातना, रुई धुनकना, पौनी बनाना, निमाड़ू बुनना आदि काम सिखाया जाता था। इन सब कामों के लिए पीरियड होते थे और पढ़ाई का तो क्या कहना। चौथी पास करना बड़ा काम था। उसका बोर्ड होता था। मैं यहाँ चौथी में भर्ती हुआ। पास भी हो गया। पाँचवीं की पढ़ाई के लिए मुझे जाने क्या सोचकर काकाजी के पास होशंगाबाद भेज दिया। वहाँ मैं एक साल ही पढ़ा। एस.एन.जी. स्कूल से फिफ्थ क्लास पास कर वापस शिवपुर आ गया। होशंगाबाद में मैंने ट्रेन में गाँधीजी के दर्शन किये बल्कि उनके डिब्बे में बुदनी तक की यात्रा ट्रेन चल जाने की वजह से की। यह संस्मरण अलग से है। जब मैं लौटकर शिवपुर आ गया तो मुझे छठवीं कक्षा में प्रवेश मिल गया। भैयाजी ही हमारे कक्षा शिक्षक थे। उसी साल गाँधीजी की हत्या हो गई तो प्रार्थना के बाद हमारे स्कूल के प्रधान पाठक ने हम लोगों को यह सूचना दी। तब वहाँ कोई आठ दस शिक्षक स्कूल में पढ़ाते थे। सभी सिसक सिसककर रो रहे थे। गाँधीजी की मृत्यु का सदमा पूरे गांव में देखा। उनकी तेरहवीं के दिन शाला के सभी छात्रों ने पोपोवंती नदी में बाल मुंडाकर स्नान किया था। गुरुजी भी थे, उनका भी क्षोरे कर्म हुआ था। इसी तरह का अवसाद हमने तब देखा था जब पाकिस्तान के लिए कुछ मुसलमान परिवार अपना घर छोड़ रवाना हुए थे। तब सभी लोग उन्हें बिलख बिलखकर विदा कर रहे थे। गनीमत रही कि वे सभी लोग तीन चार दिन बाद पगढाल से ही आगे नहीं बढ़ने के कारण वापस आ गये और इस तरह से वे पाकिस्तान के नागरिक होने से बच गये। अब वे परिवार सम्पन्न, शिक्षित और प्रसन्न हैं। उस काल के समाचार रेडियो से सुनने के लिए हमारे स्कूल के पूरे ढाई सौ लड़के कतारबद्ध होकर प्रति शनिवार को कुंवरसिंह मंडलोई की बाखर ले जाये जाते थे। जहाँ हम रेडियो से खबरें सुनकर घर लौटते थे। तब गांव में वह एकमात्र रेडियो था।

अब मैंने शिवपुर से सातवीं पास कर ली तो भैयाजी ने आगे पढ़ाने के लिए मुझे सिवनी भेज दिया जहाँ हास्टल में रहकर आठवीं कक्षा उत्तीर्ण की। यहाँ का वातावरण बिल्कुल अलग था। कहाँ शिवपुर में स्कूल का अनुशासित वातावरण और कहाँ यहाँ एकदम खुला माहौल। न स्कूल की कोई पोशाक न शिक्षकों की कोई पहचान। शिवपुर की टोपी यहाँ पहनी तो हास्टल में मेरा खूब मजाक बना। लड़के टोपी वाले नाम से पुकारने लगे मुझे। नहीं चिढ़ा तो यह छाप समाप्त हो गई। न यहाँ सूत कताई का कोई पीरियेड, ना व्यायाम, ना खेलकूद का। यहाँ एक साल ही पढ़ा और नरसिंहपुर काकाजी के पास भेज दिया गया। वहाँ काकाजी का होशंगाबाद से ट्रांसफर हो गया था। अच्छे शिक्षकों के साथ खेल-कूद का भी अच्छा वातावरण मिला। मेरा नौवीं कक्षा में प्रवेश हो गया। तब स्कूल में एक नियम था कि जो छात्र नौवीं कक्षा की अर्द्ध-वार्षिक परीक्षा में प्रथम, द्वितीय और तृतीय आते थे उन्हें क्रमशः बारह, दस और आठ रुपया मासिक स्कालरशिप ग्यारहवीं तक दी जाती थी। तब ग्यारहवीं मैट्रिक था। मुझे नौवीं में प्रथम आने पर स्कालरशिप मिल गई, लेकिन मैंने इसका जिक्र काकाजी से नहीं किया। मैं और प्रेम परिहार मिलकर इस धन का महीनाभर डटकर मजा लेते थे। तबके बारह रुपये का मतलब आज के पाँच हजार तो माने ही जा सकते हैं। काकाजी पुलिस लाइन में रहते थे और हमारा स्कूल कन्देली के पास था जो लगभग तीन किलोमीटर दूर पड़ता था। हम दोनों मित्र साथ-साथ जाते साथ-साथ आते और साथ-साथ रहते तो इतने घनिष्ठ हो गये कि सब काम में एक राय रखते। काकाजी का अनुशासन बहुत कठोर और निर्मम था जिससे तंग आकर 'हम दोनों एक साथ घर छोड़कर' जा रहे हैं यह लिखकर एक पर्चा घर में छोड़कर नरसिंहपुर से भागकर घर आ गये। मैं लगभग दस बजे रात को पगढाल स्टेशन पर ट्रेन से उतरकर शिवपुर पहुँचा। तब सुबह के चार बज रहे थे। इतनी रात में और अचानक आने की वजह से भैयाजी परेशान हो गये। मैं फूट फूटकर रो रहा था। माँ ने छाती से लगा लिया। वे भी रो रही थीं। भैयाजी परेशान कि क्या हुआ? तभी मैंने बताया कि काकाजी खूब मारते पीटते हैं। खूब काम करवाते हैं और खूब गालियाँ देते हैं। मैं अब उनके पास नहीं रहूँगा। अलग रहकर पढ़ूँगा। भैयाजी ने कठोर होकर निर्णय सुनाया कि मैं लौट जाऊँ और वहीं रहकर पढ़ूँ। कुछ दिनों बाद लौटा दिया। लौट तो आया लेकिन मेरा मन नहीं लगा। इससे एक बात जरूर मेरे व्यक्तित्व में समाहित हुई कि मुझे विपरीत परिस्थिति में भी रहना आ गया।

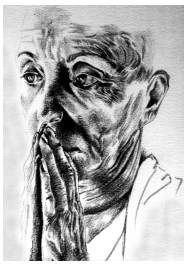

घाटी से उगते सूरज को - चमचमाते कलश से/मुझे पिता का कलश हमेशा हमेशा/सूरज से ज्यादा चमकदार लगता/ जाने कितने रोगों से ग्रस्त मेरे बूढ़े पिता/आज भी सूरज से ज़्यादा जवान हैं/आज भी उससे पहले उठते हैं/काम पर पहुँचते हैं/और सूर्यास्त के बाद जब लौटते हैं/तो आज भी घर-आंगन/एक नये सूरज की रोशनी से भर जाता है/ मेरे बूढ़े पिता आज भी/सूरज से ज्यादा प्रकाशवान हैं/रोशनी के पहाड़ की तरह।''

मैंने भैयाजी जैसा इंसान आज तक न तो रूप रंग में देखा, न उन जैसा साधारण जीवन जीने वाला। उनके जैसे पहनने, ओढ़ने, खाने पीने वाला भी नहीं देखा। पिता के रूप में ऊपर से कठोर अंदर से नरम उन जैसा पुरुष भी नहीं देखा। वे मेरे पिता थे इसलिए भावुकतावश यह कह रहा हूँ ऐसा मान कर भी मैं यदि यह कह दूँ कि वे मेरे पिता न होते तो भी मेरे लिए उतने ही पितृवत होते जितने वे पिता होकर हैं। मेरा काव्य संग्रह 'पहाड़ों के बीच' में 'पिता' शीर्षक से जो कविता है, उसे यहाँ इसलिए दे रहा हूँ कि भैयाजी ऐसे ही थे- 'चाहे जितना सर्द गर्म हो मौसम/पिता भोर से पहले उठते/नहा धोकर रोज रोज नहलाते/घाटी से उगते सूरज को - चमचमाते कलश से/मुझे पिता का कलश हमेशा हमेशा/सूरज से ज्यादा चमकदार लगता/जाने कितने रोगों से ग्रस्त मेरे बूढ़े पिता/आज भी सूरज से ज़्यादा जवान हैं/आज भी उससे पहले उठते हैं/काम पर पहुँचते हैं/और सूर्यास्त के बाद जब लौटते हैं/तो आज भी घर-आंगन/एक नये सूरज की रोशनी से भर जाता है/मेरे बूढ़े पिता आज भी/सूरज से ज्यादा प्रकाशवान हैं/रोशनी के पहाड़ की तरह।''

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

ओम भारती की कविताएँ

तलत सा'ब,
ओम भारती का सलाम!

'हलोऽऽ, तलत साब?'
'जी हाँ, बोल रहा हूँ, मैं-तलत महमूद।'

'तलत साहब, ओम भारती का सलाम!'
'अरे भारती जी, नमस्कार! नमस्कार!!'

'भाई जी, सुनाइये न, वो गाना...
अरे वही, जो आपने गाया ही नहीं'
'क्या बात है ओम भाई, लीजिये, सुनिये!'

कोई साक्ष्य मौजूद नहीं है मित्रो
कोई ध्वन्यांकन, कोई प्रमाण नहीं
हमारे संवाद की जो पुष्टि करे
फोन कटा हुआ है मेरे घर का कब से ही
और तलत महमूद के किसी फोन नम्बर का
मेरी डायरी में
नहीं रहा कभी भी वजूद
मानिये मेरा कहा फिर भी
रोज बतियाते हैं मुझसे तलत महमूद

और गाने सुनाते हैं तलत सा'ब
होती है वही लरज़ती आवाज
गाढ़ी छनती है हम दोनों में
और बातें, कि खाँड की रोटी, जहाँ तोड़ो, मीठी!

अब भी अशेष

सभागार उम्दा था गोष्ठी का
तकनीकी ठाठ उसका खूब था
यंत्र थे प्रखर कि वाचक स्वर
दूरस्थ कानों-ठिकानों तक फैले

ध्वनि का विस्तारण अद्‌भुत था
कवि-स्वर निखर-निखर उठता
जबकि कंठ के ऊँचे से
कविता की ऊँचाई औंधे मुँह गिरे
सहज संभव था यह भी
कि मंच से बिल्कुल करीब लगे कान
नहीं पकड़ें कविता की वास्तविक उठान

माइक तो पहुँचाते हैं केवल कवि-शब्द
कविता पहुँचे इसका भार नहीं लेते
कवि को ही रहना होता है चौकन्ना
अंतिम से प्रथम क्रम में श्रोता के वास्ते

कविता जो पहुँचे तो झुरमुरी देती है
बिना ध्वनि-प्रसारक के गूँजती है वह

सभी लौट गये और सभा-घर खाली है
और माइक भी अवाक् बन चुके
है कविता की आवाज अब भी अशेष

दीवारें सुन रही हैं कविताएँ पुनः-पुनः
देख रही हैं उसके कवि को अनिमेष!

रचा उसने मेरा और मैं

वृहत्तर कलकत्ते की जनाक्रांत हथेली पर
एक नाम के बगीचे के कोने में
उसने मुझे पुरानी डोलती तिपाई पर बैठाया
रोजगार उसका, समय-काट था मेरा
तो भी एक तनाव तो था ही
जिसमें हम दोनों-वह कलकतिया चितेरा
और मैं प्रायः पर्यटक, सम पर ही चले

मेरा बोलना उसकी पेंसिल को
भटका देता, यह मेरा खयाल था
हालाँकि उतने गल-गंजन के अतल में
हम टोहते ही रह जाते छह फुट से शब्द
वह भी यदि जवाबी बोलता-बतियाता

वह कैसे देख रहा है मुझे, कैसे
घुस रहा मेरी स्वप्नप्रिय युवा आँखों में
पकड़ पायेगा वह मेरे स्थिर-स्थायी चेहरे को
देगा लकीरों को आज मेरी कौन-सी शक्ल वह
ज़ेहन में उठ रहे थे मेरे हजार बातों के
बहते-बहकते बेशुमार बादल
शायद मैं उछाह से भरता उसे
मेरे रंगों की थाह तो ले, मुझे काग़ज़ में

गूँथ दे जागरूप, जीवित और अविकल
दोनों के चुप से चौकन्नी पेंसिल ने उसकी
रखा मुझे नोक पर अविचल
रचा उसने मेरा एक और मैं
जिसमें मैं सफेद-स्याह जितना भी बचा
बची जिसमें कलकत्ता की उमस
धड़क, धमक उस दिन की जितनी भी

जो हँसकर थमाया मुझे
चित्र मेरा मुझे चकित कर गया था भरपूर
ज्यों गैर-छाँहवाले को छाँह उसकी सहसा।

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

मारिन सोरेस्यू की कवियाएँ

अनुवाद
मणि मोहन

मारेन सोरेस्यू का जन्म सन् 1936 को आल्टेनिया, रोमानिया में हुआ था। कविता की पहली महत्वपूर्ण पुस्तक सन् 1965 में प्रकाशित हुई और इसके बाद कई और पुस्तकें तथा कविता संकलन और उनका नाटक 'जोन्हा' का मंचन कई यूरोपीय देशों में हो चुका है। उन्होंने बच्चों के लिए भी लिखा है।

सन् 1969 में उन्हें इंटरनेशनल पोअट्रि फैस्टीवल, नेपल्स में कविता के लिए गोल्ड मेडल मिला तथा अपनी कविताओं और नाटकों के लिए रोमानिया में ई प्रतिष्ठित पुरस्कार प्राप्त हुए। उनकी कविताओं के अनुवाद अंग्रेजी के अतिरिक्त जर्मन भाषा में भी लोकप्रिय हुए हैं। साहित्य के लिए दिए जाने वाले नोबेल पुरस्कार के लिए भी नामित किया गया था। दूसरे अन्य पूर्वी यूरोपियन कवियों की तरह जिन्होंने युद्ध के बाद लिखना शुरू किया था, सोरेस्यू ने भी रुमानी, प्रतीकात्मकता के पूर्वाग्रहों से मुक्त होना जरूरी समझा। सोरेस्यू की कुछ कविताओं में तो कथा के सूत्र भी तलाशे जा सकते हैं।

अपनी कविताओं में वे मनुष्य और उसकी अस्मिता, उसकी स्वतंत्रता (राजनैतिक व दार्शनिक) और जीवन संघर्षों से जुड़े प्रश्नों से जूझते दिखाई देते हैं।

कलाकार का आत्मचित्र

मैंने अपने जूते
सड़क पर छोड़ दिए।

अपना पतलून पहना दिया
दरख़्त को, ऊपर पत्तियों तक,
अपनी जैकेट लपेट दी
हवा के कन्धों पर।

मैंने अपना पुराना टोप
उस बादल के सिर पर रख दिया
जो रास्ते में सबसे पहले मिला।

फिर मैं वापस लौटा
मृत्यु के भीतर
खुद को देखने के लिए।

मेरा आत्मचित्र
एक दम सच्चा बन पड़ा था।

इतना सच्चा कि लोगों ने उत्साहित होकर
(मैं हस्ताक्षर करना भूल गया था)
मेरा नाम उत्कीर्ण कर दिया
पत्थर के ऊपर।

शेक्सपीयर

शेक्सपियर ने इस दुनिया की रचना सात दिनों में की.
पहले दिन उसने आसमान बनाया, पहाड़ बनाया और बनाई आत्मा की घाटियाँ।
दूसरे दिन उसने बनाई नदियाँ, समुद्र, महासागर और साथ ही साथ ढेर भावनायें।
और दे दीं
हैमलेट को, जूलियस सीजर को, क्लियोपेट्रा को, ओफीलिया, ऑथेलो और दूसरों
कि वे इन पर अपने बच्चों और आने वाली पीढ़ियों के साथ
हमेशा-हमेशा के लिए राज करें।

तीसरे दिन उसने पूरी मानवता को बुलाया
और विविध जायकों का पाठ पढ़ाया :
स्वाद खुशियों का, प्रेम का, निराशा का स्वाद, ईर्ष्या का, यश आदि,
यहाँ तक कि बांटने के लिए कोई भी शेष नहीं रहा।
परन्तु फिर भी कुछ लोग थे जो देर से आये
क्षमा चाहते हुए सर्जक ने उनके सिर थपथपाते हुए कहा
अब उनके लिए कुछ भी नहीं बचा है
सिवा इसके
कि वे आलोचक बनकर
उसके काम की प्रतिष्ठा को हानि पहुँचायें।

उसने चौथा और पांचवा दिन हास्य के लिए रखा,
और विदूषकों को खुली छूट दी
कि वे अपनी कलाबाजी से
राजा, महाराजाओं और अन्य दुर्भाग्यशाली व्यक्तियों का मनोरंजन करें

छटवें दिन वह प्रशासनिक समस्याओं से मुख़ातिब हुआ
उसने एक तूफान पैदा किया
और राजा लियर को दिखाया
कि घास-फूस से बना ताज कैसे पहना जाता है।
सर्जन के दौरान बची रद्दी चीज़ों से
उसने रिचर्ड तृतीय का निर्माण किया।

सातवें दिन उसने सुनिश्चित किया कि
अब कुछ भी करना शेष नहीं रहा।

इस बीच रंगशाला के प्रबंधकों ने
पूरी दुनिया में चस्पा कर दिए ये नाटकों के विज्ञापन
और इतने श्रसाध्य काम के बाद शेक्सपियर ने सोचा
कि चलो अब एकाध मंचन दे लिया जाय
परन्तु इस बीच उसने महसूस किया कि वह बहुत थक गया है

और वह लेट गया
मृत्यु की झपकी लेने के लिए।

सिद्धेश्वर

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

संदर्भ : नागार्जुन की 'अकाल'

अनुपस्थित में उपस्थिति की बानगी

मोहन सगोरिया

आईसेक्ट स्टुडियो (भोपाल) की पहल पर हिन्दी की कुछ आधुनिक कविताओं के सस्वर वाचन या कहें गायन की सीडी 'कविता यात्रा'तैयार की गई है। इनमें चौदह आधुनिक कवि शामिल हैं। रंगकर्मी मनोज नायर ने इसका मंचन किया जिसका प्रदर्शन बहुतेरे मंच पर सम्पन्न हुआ। 'कविता यात्रा' में जो चर्चित कविताएँ शामिल हैं उनमें बाबा नागार्जुन की कविता 'अकाल और उसके बाद' भी है। इसी कविता पर कुछ बातें यहाँ की जा रही हैं।

मंचन के प्रथम दृश्य में कुछ पात्र मंच पर हैं। ध्वनि और चेहरे के भावों से यह प्रदर्शित होता है कि वे एक उजाड़ से इलाके में बैठे हैं। दो पात्र फकीराना और सूफीयाना ढंग से मंच पर कर प्रवेश कर कोरस में गाते हैं- 'कई दिनों तक चूल्हा रोया चक्की रही उदास'।

यह पहला दृश्य बाबा की कविता में प्रवेश के लिए द्वार खोलता है। चूंकि बाबा की यह अति लघु कविता दृश्यों की कविता है- पहला अकाल और दूसरा अकाल के बाद। मंचन की यह दिक्कत है कि इन दोनों दृश्यों को यहाँ साकार करना है और यह मूर्तता पात्रों के माध्यम से करना है जबकि बाबा की कविता में चूल्हा, चक्की, कुतिया, छिपकली, चूहे, कौवे, धुंआ इत्यादि हैं। यहाँ पात्र नहीं है यानि मनुष्य विलुप्त है। बाबा की कविता पढ़कर लगता है, उनमें यह अद्‌भुत कौशल है कि वे अपने विषय को कम शब्दों में ज्यादा विस्तारित करते हैं और एक हद तक बांधते भी हैं। यह बांधना विषय का भी है और पाठकों का भी। उक्त कविता भी उनके इसी कौशल की निर्मिति है।

अकाल एक प्राकृतिक आपदा है जो इस कविता की धुरी है। जैसा कि कहा जा चुका है इस धुरी के इर्द-गिर्द चूल्हा, चक्की, कुतिया, छिपकली, चूहे, कौवे, धुँआ, छप्पर और घर का वलय है। चूल्हा रोता हुआ यहाँ दर्ज होता है। चक्की उदास है। कुतिया चक्की के पास सो रही है, मानो वह जानती है कि उदर-पोषण का बायस यही चक्की है। सूर्य की भाँति एक ऐसा जरिया जो प्रकाश की मानिंद अपने घेरे से आटा बिखेरता है। छिपकलियाँ दीवारों पर गश्त लगा रही हैं। गौर से देखने पर हम पाते हैं कि मनुष्य यहाँ नदारद है। अलबत्ता 'कई दिनों के बाद' की पुनरावृत्ति बारम्बारता से ध्वनि होती है-

कई दिनों तक चूल्हा रोया चक्की रही उदास
कई दिनों तक कानी कुतिया सोयी उसके पास
कई दिनों तक लगी भीत पर छिपकलियों की गश्त
कई दिनों तक चूहों की भी हालत रही शिवस्त

मंचन की अपनी यही एक दिक्कत है और चुनौती भी; कि जो अमूर्त है उसे मूर्त करना होता है। गायक और निदेशक ने इसे पकड़ा है यह सुखद और सुंदर बन पड़ा है। यहाँ कविता में मनुष्य नहीं है और मंच पर मनुष्य है, प्राणी नहीं। यानि दोनों जगहों पर जो अनुपस्थित है उसमें उपस्थिति की बानगी संभव हुई है। इस संभावना और संभव में जो खूबसूरत है, वह है- वही पुनरावृत्ति : कई दिनों के बाद।

यह कई दिनों के बाद बाबा की एक और कविता की याद दिलाता है, वह कविता 'बहुत दिनों के बाद' है। इस कविता में 'बहुत दिनों के बाद' गीत की टेक की तरह बार-बार आता है। वे कहते हैं- बहुत दिनों के बाद/अबकी मैंने जी भर देखी/पकी सुनहरी फसलों की मुस्कान/बहुत दिनों के बाद।/बहुत दिनों के बाद/अबकी मैंने जी भर सुन पाया/धान कूटती किशोरियों की कोकिल कंठी तान/बहुत दिनों के बाद।

आगे की पंक्तियों में बाबा कहते हैं कि मैंने बहुत दिनों के बाद ताल-मखाना खाया, जी भर गन्ने चूसे। बहुत दिनों के बाद मैंने अपने गांव की चंदनवर्णी धूल का स्पर्श किया। अंत में उपसंहार के तौर पर वे लिखते हैं कि मैंने बहुत दिनों के बाद सारे सुख एक साथ इस धरा पर भोगे। इस सुंदर कविता के मूल में यही है कि देखना, सुनना, स्वाद लेना, स्पर्श करना, प्रेम करना या भोगना रोज-रोज नहीं घटता।

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

यह कभी-कभी ही होता है अथवा बहुत दिनों के बाद। 'बहुत दिनों के बाद' की तर्ज पर 'कई दिनों तक' का बार-बार आना भी कविता के अर्थ-सौंदर्य को 'सम्प्रेषण' प्रदान करता है, एक 'फोर्स' के साथ।

यह अर्थ अकाल की दोनों स्थितियों को व्याख्यायित करता है। पहली चार पंक्तियों में पहली स्थिति है। अकाल का दृश्य है, और जीवंत दृश्य है, साफ-शफ़्फ़ाक! कहने में यह क्रूर लग सकता है किन्तु यह एक साकार दृश्य की सुंदर अभिव्यक्ति है। आदमी के लिए आदमी के बगैर जो चिंता है वह सुंदरतम ढंग से आयी है। जो 'कई दिनों के बाद' की पुनरावृत्ति से सघन होती जाती है। यहाँ थोड़ा रुककर देखें कि यह जो 'कई' है यह बहुत क्यों नहीं है। इसके उलट दूसरी कविता में 'बहुत' है।

इस ओर सोचें कि बहुवचन के लिए कई शब्द आते हैं, मसलन- दो, कुछ, कई और बहुत। यहाँ 'बहुत' नहीं है, 'कई' है। जबकि अकाल बहुत दिनों तक रहा आया होता है। यहाँ 'कई दिनों तक' न कहकर महीनों या वर्ष कहें तब ज्यादा प्रासंगिक होगा। 'कई दिनों तक' अकाल नहीं अकाल जैसी कोई आपदा हो सकती है। बाबा की यह कविता इस आपदा को ध्यान में रखकर पढ़ी जानी चाहिए। इस तथाकथित अकाल में वे मनुष्य की पीड़ा को उन प्राणियों की व्याकुल उपस्थिति में अभिव्यक्त करते हैं। यह थोड़ा अखरता भी है कि जिस मनुष्य की पीड़ा के लिए कविता का सृजन किया गया वही यहाँ अनुपस्थित है। सन् 1943 में डॉ. हरिवंशराय बच्चन ने 'बंगाल का काल' कविता लिखी। यह एक लम्बी कविता है, चार-पाँच पृष्ठों तक फैली। एक अन्य कविता कलकत्ता के अकाल पर है, जिसमें लोग शहर छोड़कर पलायन कर रहे हैं।

इस दौर में अकाल पर और भी कविताएं लिखी गई हैं जिनमें बिलखती हुई मनुष्यता आती है। बच्चनजी अकाल से पीड़ित मानव को रेखांकित करते हुए भूखों से अपील करते हैं : 'हमें भूख का अर्थ बताना/भूखों, इसको आज समझ लो/मरने का यह नहीं बहाना।'

इस समयानुकूल अपील के बाद भी वे भूख से सर्वाधिक आतप रूप को रेखांकित करते हैं- भूख नहीं दुर्बल निर्बल है/भूख सबल है/भूख प्रजल है/भूख अटल है/भूख कालिका है, काली है/या काली सर्व भूतेषु क्षुधा रुपेण संस्थिता...

बाबा की कविता में यह 'भूख' और यह मनुष्य क्यों नहीं आया, इस पर एक बार फिर से विचार करने की आवश्यकता तो नहीं कि कहीं वे कन्नी काटकर तो नहीं निकल गए? यूँ भी नागार्जुन को मर्दाना लिबास पहनाकर आलोचक जब-तब सामने लाते रहे हैं जबकि उनकी अधिकांश कविताएँ कोमल कविताएँ हैं।

कभी-कभार मुझे यूँ लगता है कि बाबा यह बताना चाहते हैं कि जीव-जंतु और प्राणियों में दुःख को अनुभूत करने की जो संवेदनशीलता है वह मानव से तीव्रतम है। जैसा कि पंचतंत्र या महादेवी वर्मा के रेखाचित्रों में नजर आती है। कुछ और गहरे जाकर बात करें तो तुलसी से लेकर मुक्तिबोध तक में यह फैंटेसी कलाबाजी की तरह दीखती है जो कभी कागभुसुण्ड तो कभी ब्रह्मराक्षस के रूप में स्मृति पटल पर चस्पा हो जाती है। प्रसंगवश यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि जब जीव जंतुओं में दुःख की अनुभूति इतनी तीव्र है तो मनुष्य के सापेक्ष यह कैसी होगी? तब दोनों हाल में बाबा की ये पंक्तियाँ 'बड़ी कविता' की पंक्तियाँ कही जा सकती हैं। यहाँ कविता के दोनों सिरे खुले हैं- बाबा का यह खेल बखूबी बरकरार है।

मंचन करते वक्त मनोज नायर ने इस खेल को बखूबी समझा। वे साफ करते चलते हैं कि इन प्राणियों की उपस्थिति इस कविता के मंचन की जान है। सो वे एक्सप्रेशंस (भाव प्रवणता) से ही सही इन प्राणियों को मंच पर आभासित करते हैं। कवि और रंगकर्मी का यह खेल सजीव और निर्जीव चीजों के बीच चलता रहता है। चूंकि मनुष्य कविता के दूसरे भाग में आता है और वह भी सीधे-सीधे नहीं। यहाँ घर-आँगन है, धुँआ है और चमकती हुई आँखें हैं-

दाने आए घर के अंदर कई दिनों के बाद

धुँआ उठा आँगन के ऊपर कई दिनों के बाद

चमक उठी घर भर की आँखें कई दिनों के बाद

कौए ने खुजलाई पाँखें कई दिनों के बाद।

दाने घर के अंदर आए हैं। जाहिर है कि मनुष्य के मार्फत- और घर भर की आँखें चमक रही हैं यानि परिजनों की। धुँआ आँगन के ऊपर उठ रहा है। यह धुँआ भी शायद हिन्दी कविता और मंच पर पहली बार दर्ज होता है। अलबत्ता, उर्दू कविताई में यह जब-तब रहा आया- 'देख के दिल के जाँ से उठता है/ये धुँआ-सा कहाँ से उठता है।' या छायावाद का धुँआ याद करें- बादलों, पठारों और पर्वतों का धुँआ। यह रजत कण है और धुँआ नहीं वाष्प है। बाद में यह गीतों में- ''चाहे हवन का हो चाहे कफन का हो/धुँए का रंग एक है।'' की तरह आया। या फिर साहिर का धुँआ, हर फिक्र को उड़ा देने वाला। लेकिन बाबा का यह धुँआ भूख से जुड़ता है, मनुष्यता से जुड़ता है। हालांकि वे भी इस धुँध में एक बारगी बहुत कुछ उड़ा देते हैं कि इसी फक्कड़ता का नाम नागार्जुन है।

अभिनय, गायन और ध्वनि (संगीत) की त्रिवेणी में यह धुँआ मंच पर साकार हुआ है जिसमें जो कुछ अनुपस्थित है वह उपस्थित हो रहा है। इसी धुँए से छनकर आ रहे प्रकाश में कौए पाँखें खुजलाते हैं। यहाँ पाँखें खुजलाते कौवे बुजुर्गों की तरह मुंडेर पर बैठे लगते हैं और संभवतः आशीष वर्षा करते हैं।

बाबा इसी वर्षा में भीगते नजर आते हैं क्योंकि वे मंच पर साकार होते हैं।

कवि नागार्जुन

बाबा यह बताना चाहते हैं कि जीव-जंतु और प्राणियों में दुःख को अनुभूत करने की जो संवेदनशीलता है वह मानव से तीव्रतम है। यहाँ कविता के दोनों सिरे खुले हैं- बाबा का यह खेल बखूबी बरकरार है।

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

खंडवा में वनमाली शताब्दी प्रसंग

कथनी, करनी और लेखनी में समान दिखे 'वनमाली'

अपने उसूलों और आदर्शों की बुनियाद पर काबिल शिष्यों की पीढ़ियों को सँवारने वाली गुरु विभूति के अक्स जब खंडवा के रंगमंच पर रौशन हुए तो इस दिलचस्प नज़ारे को निहारती आँखें श्रद्धा से नम हो उठीं।

म.प्र. के शैक्षणिक-साहित्यिक अतीत में सुनहरा अध्याय जोड़ने वाले स्व. जे.पी. चौबे 'वनमाली' के कहे, लिखे और जिये हुए अनुभवों का सार सँजोये भोपाल के नाट्य समूह 'रंगशीर्ष' के अदाकारों ने लगभग डेढ़ घंटे की रोचक प्रस्तुति को एक जीवंत दास्तान की तरह पेश किया। वनमाली जन्मशताब्दी प्रसंग के निमित्त हुए 'कर्मयोगी' नाट्य रूपक के इस विशेष मंचन के साक्षी बनने शिक्षा, संस्कृति, साहित्य और कला जगत के गणमान्य जनों के अलावा कलाप्रेमी समुदाय भी गौरीकुंज सभागार में खिंचा चला आया। इस अवसर पर वनमाली सृजन पीठ और सांस्कृतिक पत्रिका 'रंग संवाद' की ओर से स्व. चौबे के सहकर्मी रहे शिक्षकों का सम्मान उनके छात्रों ने किया।

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

सृजन पीठ के समन्वयक और 'रंग संवाद' के संपादक विनय उपाध्याय ने समारोह को संबोधित करते हुए कहा कि खंडवा वनमालीजी के पुरुषार्थी जीवन का एक महत्वपूर्ण पड़ाव था, जहाँ उन्होंने अपने शिक्षकीय जीवन का गौरवशाली वक्त गुजारा। उनकी स्मृति को स्थायी धरोहर बनाने के लिए खंडवा में रचनात्मक महत्व की कई गतिविधियों का विस्तार किया जाएगा। समारोह में श्री उपाध्याय द्वारा संपादित और डॉ. विद्यानिवास मिश्र से सम्मान पुरस्कृत पत्रिका 'रंग संवाद' के नए अंक तथा वनमालीजी की धर्मपत्नी स्व. शारदा चौबे द्वारा संकलित पारंपरिक भक्ति पदों के सीडी अलबम का लोकार्पण भी किया गया। नट निमाड़ रंग समूह के स्थानीय सहयोग से आयोजित प्रसंग में 'बिंब-प्रतिबिंब' शीर्षक छाया प्रदर्शनी ने अनूठा आयाम जोड़ा।

समारोह उस समय भावभीना हो उठा जब वनमालीजी के सहकर्मी शिक्षकों जी.एस. गौर, जी.एम. जोशी, एन.एस. वर्मा, रियाजुल हमीद, एम.आर. मंडलोई, कैलाश मालवीय आदि का पूर्व छात्रों महेन्द्र हूमड़, प्रदीप अग्रवाल, शरद जैन, सुभाष जैन, आलोक सेठी ने शॉल, श्रीफल, गुलदस्ता और प्रतीक चिन्ह भेंट कर अभिनंदन किया।

उल्लेखनीय है कि सभी सम्मानित शिक्षक 1955 से 1966 के दौरान शासकीय बहुउद्देश्यीय उच्चतर माध्यमिक शाला खंडवा में स्व. जे.पी. चौबे वनमालीजी के अधीनस्थ कार्यरत रहे। इन शिक्षकों ने भी आदर्श शिक्षक की परंपरा का पालन कर काबिल शिष्यों की पीढ़ियाँ तैयार कीं।

गौरीकुँज सभागार में मौजूद खंडवा के सैकड़ों कलाप्रेमियों ने वनमाली के जीवन और सृजन को 'जिल्दसाज', 'ट्रेन का डिब्बा', 'आदमी और कुत्ता' जैसी रोचक और प्रेरक कहानियों के जरिए जाना। 'रंग शीर्ष' के कलाकारों ने प्रसिद्ध रंगकर्मी संजय मेहता के निर्देशन में इन्हें मंच पर उतारा।

इस अवसर पर 'नट निमाड़' के अध्यक्ष शरद जैन और वनमाली परिवार की ओर से संतोष कौशिक, प्रशांत सोनी, सौरभ अग्रवाल, मोहन सगोरिया, लुकमान मसूद आदि ने कलाकारों तथा अतिथियों का स्वागत किया। समारोह का संचालन कला समीक्षक विनय उपाध्याय ने किया।

शिक्षक - सम्मान

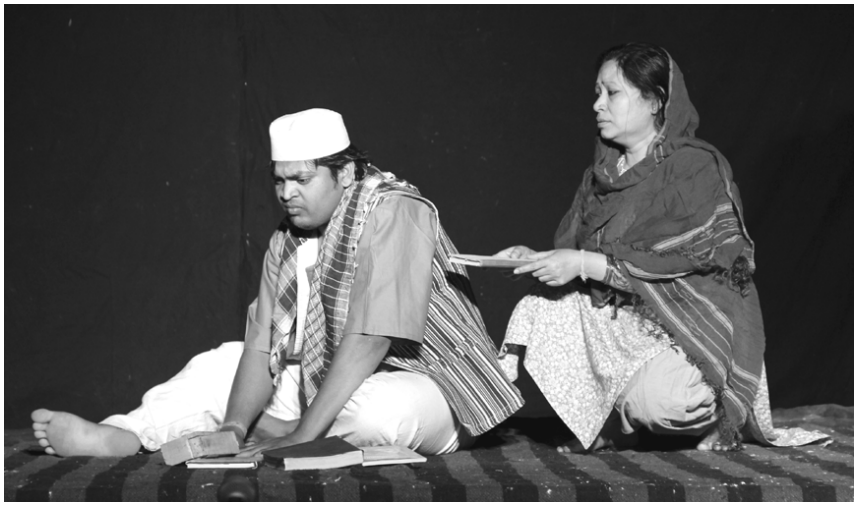

'कर्मयोगी' का मंचन

खंडवा का रसिक समाज

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

जीने का शऊर सिखाती हैं फिल्में

भोपाल के स्कोप कॉलेज ऑफ इंजीनियरिंग के विद्यार्थियों के लिए ये एक खास दिन था। खास इस मायने में कि उन्हें अपनी रोजमर्रा की पढ़ाई के अलावा चित्रपट के माध्यम से फिल्म पढ़ने, देखने एवं उसे समझने की कला से रूबरू कराया गया।

मौका था भारतीय सिनेमा के शताब्दी प्रसंग पर आयोजित विशेष व्याख्यान का। जिसमें प्रख्यात फिल्म विशेषज्ञ, चिंतक, समीक्षक अनिल चौबे ने अपने व्याख्यान एवं फिल्मी गीतों एवं दृश्यों की झलकियों के माध्यम से विद्यार्थियों को फिल्म को समझने, देखने का एक नया नज़रिया दिया।

चित्रपट की दुनिया से चुनिंदा गीत-संगीत और दृश्यों को उनकी तकनीकी तथा कलागत खूबियों के साथ प्रस्तुत करते हुए श्री चौबे ने 1952 से 2012 तक की 60 वर्ष की भारतीय सिनेमा की यात्रा पर प्रकाश डाला। इसमें उन्होंने 1952 में बनीं बिमल राय की फिल्म देवदास से लेकर 2012 में आई यश चोपड़ा की फिल्म जब तक है जान फिल्म के चुनिंदा दृश्यों के माध्यम से समय के साथ फिल्म के दृश्य विधान, उसके गीत संगीत में आए बदलाव पर चर्चा की। उन्होंने कहा कि हम फिल्म देखना जानते हैं लेकिन लोगों में फिल्म पढ़ने की समझ पैदा करना ही हमारा मक़सद है।

फिल्म एक कलेक्टिव मीडियम है जिसमें सैकड़ों लोगों की टीम मिलकर हमारे सामने एक फिल्म प्रस्तुत करती है। ये लेखक, निर्देशक, गीतकार, संगीतकार, छायाकार, अभिनेताओं का सामूहिक प्रयास होता है। फिल्में समाज को जीने का शऊर सिखाती हैं। श्री चौबे ने बिमल राय की फिल्म देवदास, ऋषिकेश मुखर्जी की मुसाफिर,

स्कोप कॉलेज ऑफ इंजीनियरिंग में अनिल चौबे का व्याख्यान

कमाल अमरोही की दायरा, राज कपूर की बारिश, बासु चटर्जी की मंजिल, आर.के. नैयर की ये रास्ते हैं प्यार के आदि के दृश्यों के माध्यम से गीतों के फिल्मांकन उनके गीत, संगीत की खूबियों के माध्यम से उस दौर के सिनेमाकारों के नजरिये को समझाने का प्रयास किया। उन्होंने कहा कि पहले गीत संगीत फिल्म की कहानी को आगे बढ़ाने में सहायक होते थे।

आईसेक्ट के महानिदेशक तथा कवि-कथाकार संतोष चौबे ने व्याख्यान के उपरांत अपने वक्तव्य में हिन्दी फिल्मों से भारतीयता के मूल्यों को समझने की ओर संकेत किया। उन्होंने कहा कि पुरानी फिल्मों में 'आई लव माई इंडिया' की भावना कथानक से लेकर दृश्यों और अभिनय तथा संगीत में पूरी शिद्दत से उद्घाटित होती है। लेकिन आधुनिक फिल्मों में यह सच कहीं हाशिये पर चला गया है।

इस मौके पर फिल्म समीक्षक और स्तंभकार सुनील मिश्र ने समय के साथ सिनेमा के स्वरूप में आए बदलावों तथा श्री चौबे की परिकल्पना से जुड़े पहलुओं की खूबी से अवगत कराया। प्रारंभ में आईसेक्ट के महानिदेशक श्री संतोष चौबे ने श्री अनिल चौबे एवं स्कोप कॉलेज के प्राचार्य डॉ. डी.एस. राघव ने श्री संतोष चौबे एवं सुनील मिश्र का स्वागत किया। कार्यक्रम का संचालन कला समीक्षक विनय उपाध्याय ने किया।

पुरानी फिल्मों में 'आई लव माई इंडिया' की भावना कथानक से लेकर दृश्य, अभिनय तथा संगीत में पूरी शिद्दत से उद्घाटित होती है। लेकिन आधुनिक फिल्मों में यह सच कहीं हाशिये पर चला गया है।

व्याख्यान के मंच पर संतोष चौबे तथा अनिल चौबे

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

‘कथन’ को पहला वनमाली साहित्यिक पत्रकारिता सम्मान

दिल्ली से प्रकाशित साहित्यिक पत्रिका ‘कथन’ के संपादन के लिए प्रसिद्ध कथाकार रमेश उपाध्याय को पहला ‘वनमाली साहित्यिक पत्रकारिता सम्मान’ दिया गया। भारत भवन भोपाल में हुये गरिमामय समारोह में वरिष्ठ पत्रकार ओम थानवी, कथाकार शशांक तथा मुकेश वर्मा, मेज़बान संतोष चौबे और सम्मान गृहीता रमेश उपाध्याय।

मीडिया में साहित्यिक पत्रकारिता पर विमर्श

वनमाली सृजनपीठ और आईसेक्ट विश्वविद्यालय के सहयोग से साहित्यिक पत्रिका ‘प्रेरणा’ द्वारा भोपाल में आयोजित गरिमापूर्ण समारोह में ‘हमारे समय में साहित्यिक पत्रकारिता : संदर्भ प्रिंट और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया’ विषय पर परिसंवाद हुआ। इस अवसर पर ‘कथन’ के संपादन के लिए प्रसिद्ध कथाकार रमेश उपाध्याय को पहला ‘वनमाली साहित्यिक पत्रकारिता सम्मान’ दिया गया। दूसरे दिन बलराम की किताब ‘माफ़ करना यार’ पर विचार गोष्ठी हुई।

‘‘आज के दौर में पत्रकारिता के लिए सबसे ज़्यादा ज़रूरी है उसका जनोन्मुख होना, जिसे पूरा करने में साहित्यिक पत्रिकाएं पूरक भूमिका निभा सकती हैं। आदर्शवाद और यथार्थवाद के बीच संतुलन न बना पाने के कारण कई पत्रिकाएं लेखकों की, लेखकों की ओर से, लेखकों के लिए निकाली जाने वाली पत्रिकाएं बन कर रह गई हैं, जबकि पत्रिकाएं आम पाठकों के लिए होनी चाहिए। साहित्यिक पत्रिकाएं किसी दल, संगठन या विचारधारा से बंधकर और सरकारी मदद लेकर नहीं बल्कि लेखकों और पाठकों के सहयोग से निकाली जानी चाहिए।’’ यह बात रमेश उपाध्याय ने ‘वनमाली साहित्यिक पत्रकारिता सम्मान’ ग्रहण करते हुए भारत भवन, भोपाल में कही। इस अवसर पर वरिष्ठ कथाकार शशांक ने कहा कि समय के साथ साहित्य और पत्रकारिता के मायने बदल रहे हैं। नई तकनीक के इस दौर में लेखकों के सामने अपनी स्थिति बनाए रखने की चुनौती है। साहित्य का उद्देश्य समाज को उन्नत बनाता है।

भोपाल में ‘वनमाली’ और ‘प्रेरणा’ का विचार प्रसंग

वरिष्ठ कथाकार एवं ‘समावर्तन’ के संपादक मुकेश वर्मा ने कहा कि 21वीं सदी में भले ही युवा साहित्य से दूर भाग रहे हैं, बावजूद इसके अनेक संस्थाएं उसके वजूद को बनाए रखने के लिए प्रयासरत हैं। पत्रकारिता लोकतंत्र का आधार है, जो साहित्य से जुड़कर सार्थक बनता है। ‘प्रेरणा’ के संपादक अरुण तिवारी ने पत्र-पत्रिकाओं में साहित्यिक पत्रकारिता की जगह सिकुड़ते चले जाने पर चिंता जताते हुए कहा कि साहित्यिक पत्रकारिता सिर्फ साहित्यिक पत्रिकाओं तक सीमित न रहे, बल्कि वह समाचार पत्रों और व्यावसायिक पत्र-पत्रिकाओं में भी समान रूप से उपस्थित हो तो बेहतर होगा।

कार्यक्रम के मुख्य अतिथि वरिष्ठ पत्रकार एवं ‘जनसत्ता’ के संपादक ओम थानवी ने कहा कि साहित्य को विचारधारा और खेमेबाजी से मुक्त रखना चाहिए। इसके लिए सभी को भागीदारी करनी होगी। हमें ऐसा कुछ करना होगा कि पाठकों की समझ में इज़ाफ़ा हो, जानकारी तो पाठक अन्य माध्यमों से भी प्राप्त कर लेगा। पत्रकारिता में जब आप गंभीर बात करेंगे तो बाज़ार की बात कम होती चली जाएगी।

वनमाली सृजनपीठ के निदेशक, आईसेक्ट विश्वविद्यालय के कुलाधिपति तथा प्रख्यात कवि-कथाकार संतोष चौबे ने इस अवसर

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

पर कहा कि साहित्यिक पत्रकारिता के कई रूप होते हैं। साहित्यिक पत्रिकाओं के साथ-साथ समाचार पत्रों में भी यह साहित्यिक भाषा के रूप में उपस्थित हो सकती है। साहित्यिक पत्रकारिता का अर्थ विस्तार होना चाहिए। परंपराओं के बारे में पुनर्विचार करने की ज़रूरत है। उन्होंने आईसेक्ट विश्वविद्यालय में संस्कृति केन्द्र स्थापित करने तथा वनमाली सृजनपीठ की ओर से विभिन्न शहरों में सौ पाठक मंच स्थापित करने की घोषणा की। भारत भवन के खचाखच भरे सभागार में रमेश उपाध्याय को इक्कीस हजार रुपये, प्रशस्ति पत्र और स्मृतिचिन्ह भेंटकर प्रथम 'वनमाली साहित्यिक पत्रकारिता सम्मान' से अलंकृत किया गया। कार्यक्रम का संचालन कला समीक्षक और 'रंग संवाद' के संपादक विनय उपाध्याय ने किया। अतिथियों का स्वागत अमित सक्सेना, बलराम गुमास्ता, महेन्द्र गगन, पलाश सुरजन और प्रेमशंकर शुक्ल ने किया।

सम्मान समारोह से पहले स्वराज भवन में 'हमारे समय में साहित्यिक पत्रकारिता : संदर्भ प्रिंट एवं इलेक्ट्रॉनिक मीडिया' पर परिसंवाद हुआ। प्रारंभ में 'प्रेरणा' के संपादक अरुण तिवारी ने अतिथियों का स्वागत करते हुए कहा कि कहानी-कविता को ही साहित्यिक पत्रकारिता न मानते हुए मूलभूत एवं मूलभाव से व्यक्त विचारों को भी साहित्य माना जाना चाहिए, जिसमें संवेदना एवं भावनाएं हों, जबकि पत्रकारिता यथार्थ को व्यक्त करने एवं दैनंदिन लेखा-जोखा प्रस्तुत करने का माध्यम भर है। एक-दूसरे में विलीन होकर वे साहित्यिक पत्रकार बन जाते हैं।

वक्तव्य : प्रभु जोशी

परिसंवाद शुरू करते हुए जीवनसिंह ठाकुर ने कहा कि आज साहित्यिक पत्रकारिता पर संकट है। अर्जुनप्रसाद सिंह ने कहा कि साहित्य को दायरों से बाहर निकलना चाहिए। लेखक-प्रकाशक महेश भारद्वाज ने उत्कृष्ट साहित्य के लेखन की ज़रूरत पर बल देते हुए कहा कि 'कितने पाकिस्तान', 'आवां', 'मुझे चांद चाहिए' और 'चाक' जैसी लोकप्रिय रचनाएं दसियों बरस से नहीं आयीं। ऐसी रचनाएं ही साहित्य को आगे बढ़ाती हैं। कवि प्रांजल धर ने बाज़ारवाद के बढ़ते दबाव के कारण स्थापित मूल्यों के क्षरण के चलते पत्रकारिता की समसामयिक भूमिका पर प्रश्नचिह्न खड़े किये। वरिष्ठ कथाकार प्रदीप पंत ने 'प्रेरणा' के दिल्ली कार्यक्रम की चर्चा करते हुए साहित्यिक पत्रकारिता की आवश्यकता पर ज़ोर दिया। 'प्रगतिशील वसुधा' के संपादक और वरिष्ठ कवि राजेन्द्र शर्मा ने 'प्रेरणा' के साहित्यिक पत्रकारिता अंक पर आधारित इस तरह के आयोजन की प्रशंसा करते हुए वनमाली सृजन पीठ को बधाई दी। परिसंवाद के प्रथम सत्र के अध्यक्षीय वक्तव्य में बलराम ने साहित्यिक पत्रकारिता के सिकुड़ते क्षेत्रों पर चिंता जताते हुए विभिन्न मुद्दों की चर्चा की और पत्रकारिता के अपने दीर्घ अनुभवों को श्रोताओं से साझा किया। सत्र संचालन बलराम गुमास्ता ने किया।

दूसरा सत्र इलेक्ट्रॉनिक मीडिया पर केन्द्रित रहा। राहुल ब्रजमोहन ने कहा कि मीडिया के साथ बड़ा ख़तरा यह है कि वह कई संस्कृतियां हम पर लाद रहा है। हम ऐसे समय में हैं कि समझ नहीं पा रहे कि हँस रहे हैं कि रो रहे हैं। वरिष्ठ कथाकार-पत्रकार प्रमोद भार्गव ने कहा कि स्क्रिप्ट लेखन पर पहले प्रशिक्षण दिया जाता था, लेकिन आज इसका अभाव है। चर्चित ब्लॉगर रविशंकर श्रीवास्तव ने ब्लॉग के महत्व पर प्रकाश डाला। इलाशंकर गुहा ने इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के इतिहास की चर्चा की। वरिष्ठ कवि शशिभूषण द्विवेदी ने कहा कि इलेक्ट्रॉनिक मीडिया है या नहीं यह संदेह के घेरे में है। वरिष्ठ कथाकार प्रभु जोशी ने कहा कि साहित्य के कल्पित चित्र का इलेक्ट्रॉनिक मीडिया क्षरण करता है। सत्य को सत्य की तरह रखता है साहित्य, जबकि इलेक्ट्रॉनिक मीडिया दर्शकों से छल करता है। दूसरे सत्र के अध्यक्ष रघु ठाकुर ने कहा कि इलेक्ट्रॉनिक मीडिया ने साहित्यिक पत्रकारिता के लिए जगह ही नहीं छोड़ी। एकाध चैनल ज़रूर रुचि लेते दिखाई दे रहे हैं। इस सत्र का संचालन पुष्पेन्द्रपाल सिंह ने किया।

स्वागत उद्बोधन : आयोजक संपादक प्रेरणा अरुण तिवारी

दूसरे दिन बलराम की किताब 'माफ़ करना यार' पर दुष्यंतकुमार पांडुलिपि संग्रहालय के सभागार में हुई विचार गोष्ठी में राधेलाल विजधावने ने कहा कि बलराम ने इसे जिस क्रमबद्धता में लिखा है, उससे उनके संस्मरण एलबम के चित्रों की तरह हो गए हैं। प्रमोद भार्गव ने पुस्तक को अत्यंत रोचक बताया। आनंदकुमार सिंह को पुस्तक की शैली में नयापन लगा। राजकमल की पठित टिप्पणी में बताया गया कि यह पुस्तक साहित्यिक पत्रकारिता का इतिहास है। प्रदीप पंत ने कहा कि पुस्तक यथार्थ का भयावह चित्रण करती है। गुमास्ता जी ने कहा कि यह अतीत की स्मृतियों और समय के हस्ताक्षरों की तरह है, एक ऐसे अतीत का अटाला, जिसमें अलग-अलग कालखंडों की तमाम स्मृतियां दर्ज हैं, जो पुस्तक को रोचक और पठनीय बना देती हैं। हिन्दी की जातीय स्मृति का महत्वपूर्ण दस्तावेज बन गया है बलराम का यह पोथा। महेश भारद्वाज ने कहा कि 'लोकायत' के 'आख़िरी पन्ना' के ज़रिये बलराम ने साहित्य और पत्रकारिता का नया इतिहास लिख दिया है। नई पीढ़ी को यह इतिहास पढ़ाने के लिए हमने इसे 'माफ़ करना यार' के रूप में प्रकाशित कर दिया है।

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

विचार गोष्ठी के मुख्य अतिथि संतोष चौबे ने कहा कि 'माफ़ करना यार' पुस्तक में लेखन की एक मौन यात्रा आंतरिक और बाह्य रूप में चलती रहती है , जो उसे विशिष्ट बनाती है। युवा पीढ़ी के लिए यह एक ज्ञानप्रद पुस्तक है, जो उसे यह बोध कराती है कि उसे क्या करना चाहिए और क्या नहीं? अध्यक्षीय वक्तव्य में वरिष्ठ कथाकार मुकेश वर्मा ने कहा कि पुस्तक की भाषा सशक्त एवं पठनीय है। यह पुस्तक नई विधा का आग़ाज़ करती है। ज़रूरी नहीं कि यह किसी विधा में ही रखी जाए, क्योंकि वर्तमान समय विधाओं के परस्पर अतिक्रमण और आवाजाही का है। इसलिए अब गद्य में कविता की भी बातें पायी जा सकती हैं और कविता में अन्य विधाओं की शैली मिल जाती है। टिप्पणियों पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए बलराम ने कहा कि इस किताब में मेरे वृत्तांत कम ही हैं, अन्य लोगों के बारे में ही ज़्यादा कहा गया है। लेखक से ज़्यादा महत्वपूर्ण होते हैं किताबें पढ़ने वाले, जो उनमें न जाने क्या-क्या खोज लेते हैं। विचार गोष्ठी का संचालन प्रसिद्ध कथाकार और सांस्कृतिक संस्था 'स्पंदन' की संयोजक उर्मिला शिरीष ने किया।

आयोजन के दौरान विजय बहादुर सिंह, राजेश जोशी, नरेश सक्सेना, पंकज राग, विनीता चौबे, कुमार अंबुज, पंकज सुबीर, सुधीर सक्सेना, सुबोध कुमार श्रीवास्तव, नवल शुक्ल, शैलेन्द्र शैली, राजुरकर राज, कुंवर नारायण टंडन, मयंक श्रीवास्तव, अंजना, पूर्णिमा, वीरेन्द्र जैन, देवीलाल पाटीदार, बनाफर चन्द्र, प्रयास जोशी, रामप्रकाश त्रिपाठी, राकेश सेठी, नवल जायसवाल, श्याम मुंशी, अजीत हर्षे, सविता भार्गव, प्रज्ञा रावत, शिवकुमार अर्चन, प्रमोद वैद्य, आरती, रेखा कस्तवार, तरुण भटनागर, महेन्द्र सिंह ठाकुर, पलाश सुरजन, अरविन्द मिश्र, जगदीश किंजल्क, अनवारे इस्लाम, मोहन सगोरिया, बसंत सकरगाए, महेन्द्र गगन, राम अधीर, सुधीर मोता, संतोष मालवीय, शिव डोयले, जगदीश श्रीवास्तव, अनिल शाही, नरेन्द्र दीपक, शिवकुमार तथा उपेन्द्र विजयवर्गीय आदि की उपस्थिति उल्लेखनीय रही।

'पाठ प्रसंग' में क़ुरैशी के काव्य रंग

ज़िंदगी है तो ज़रूरी है कहानी होना... इन पंक्तियों में इशारा है जीवन की गतिमयता का और सतत् संघर्षशील जीवन का...। जीवन के इस सतरंगी इंद्रधनुष को अपनी ग़ज़लों में पिरोकर प्रख्यात ग़ज़लकार एवं गीतकार ज़हीर क़ुरैशी वनमाली सृजन पीठ के भोपाल स्थित अध्ययन केन्द्र में श्रोताओं से मुखातिब हुए।

अवसर था वनमाली सृजनपीठ की पाठ श्रृंखला में आयोजित जहीर क़ुरैशी के एकल रचना पाठ का। इस मौके पर वरिष्ठ गीतकार मयंक श्रीवास्तव बतौर अध्यक्ष उपस्थित थे। ज़हीर क़ुरैशी के रचना कर्म पर रामप्रकाश त्रिपाठी ने वक्तव्य दिया। जहीर क़ुरैशी ने रचना पाठ की शुरुआत करते हुए कहा कि- हम वामपंथी सोच वाले लोग हैं। ये दावा तो नहीं कर सकते कि लिखा और दुनिया सुधर गई, पर कविता धीरे-धीरे अपना काम करती है। मेरी कविता का मूल स्वप्न है कि ये दुनिया ख़ूबसूरत हो, शांति सम्पन्न और ख़ुशहाल हो। शोषण और अन्याय न हो। भाईचारा हो, प्रेम हो।

उन्होंने अपनी पंक्तियों को कुछ इस तरह प्रस्तुत किया 'मंदिरों या मस्जिदों की तरफ मन नहीं किया', 'निजी डरों ने सिखाया हमें दुआ करना' सुनाते हुए ज़हीर ने कहा कि इस संसार की ख़ुशहाली का मूल तो प्रार्थनाओं में छुपा है। जब तक हम प्रार्थनाएँ नहीं करते, तब तक इस समय और संसार के प्रति अपनापन नहीं जागता। शायद यही अपनापन जगाता है। जीवन में निरंतर घटने वाले सुखों-दुखों को हम कहानी कहें तो ये कहानी भी ज़रूरी है जिंदा रहने के लिए। इसी मूल भाव को पेश करती हुई ग़ज़ल उन्होंने पढ़ी- 'ज़िंदगी है तो ज़रूरी है कहानी होना'। मानवीय संवेदनाओं के छिन्न-भिन्न होते इस वक्त में मानव-मूल्यों और रिश्तों को बचाने का और इस दुनिया की खुशहाली का स्वप्न देखती कई और ग़ज़लें उन्होंने इस अवसर पर प्रस्तुत की। इस 'पाठ प्रसंग' का संचालन कला समीक्षक विनय उपाध्याय ने किया।

रंग जो छूट गया

कैनवास पर रंगों के माध्यम से कविता करना और कविता में शब्दों के ज़रिये रंगों का विमर्श छेड़ना, यह फ़ितरत है हमारे समय के सजग चित्रकार के. रवीन्द्र की। अपने चित्रों में निरंतर प्रयोगशीलता के पक्षधर रवीन्द्र के चित्रों में मानवीय संवेदनाओं का संसार पसरा हुआ है। मनुष्य का एकाकीपन, दुख, विडंबनाएँ, निराशा और फिर जीने की उत्कट इच्छा मनुष्य की इन मनःस्थितियों का साक्षात्कार रवीन्द्र के चित्रों की बुनियादी पहचान है। मनोविज्ञान का प्रकटीकरण रंगों के माध्यम से करने की चुनौती को रवींद्र ने स्वीकार किया और हमारे संघर्ष, पराजय और जीवटता को अपनी कला-भाषा में व्यक्त किया। ज़्यादातर रंग उत्सवों और उल्लास के हर्षमय क्षणों में खर्च हो जाते हैं, किन्तु जहाँ मनुष्य के धैर्य की, साहस की परीक्षा है उन चुनौती पूर्ण वक़्तों के लिए भी कला के पास रंग होने चाहिए। रवींद्र ऐसे ही छूटे हुए रंग अपने चित्रों के लिए चुनते हैं। 'रंग जो छूट गया'

रवीन्द्र का रेखांकन

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

इस प्रदर्शनी में 25 तैलचित्र प्रस्तुत किए हैं जिन्हें उन्होंने महज़ ढाई-तीन महीने में बनाया है।

रायपुर के महंत घासीदास संग्रहालय की कला दीर्घा में आयोजित यह चित्र प्रदर्शनी कविता केंद्रित पत्रिका 'संकेत' ने आयोजित की थी। सतत् सृजनशील रवींद्र के विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में करीब 16000 रेखांकन और चित्र प्रकाशित हो चुके हैं। प्रदर्शनी के अवलोकनार्थ आए कलाधर्मियों ने मुक्त कंठ से इन चित्रों की प्रशंसा की। यह उनकी आठवीं एकल प्रदर्शनी थी। इनकी कविताएँ भी आकाशवाणी से प्रसारित होती रही हैं। इस प्रकार साहित्य और कला के संस्कार रवींद्र की चित्रकला में संवेदनशील उपस्थिति दर्ज कराते हैं।

काले-सफेद की जुगलबंदी

आर्ट 2020 की 'शेडो'

कला की परंपरा को पोषित करने, कला में प्रयोगों को प्रोत्साहित करने और स्वस्थ आलोचना तथा सम्वाद की गरज़ लिए युवा कलाकारों ने आर्ट 2020 कला समूह का गठन किया। स्वप्न दृष्टा ए.पी.जे. अब्दुल कलाम के महत्वाकांक्षी उद्घोष '2020 का भारत' के सिद्धांत का अनुकरण करते हुए कई स्थापित कलाकारों ने भी इस कल्पनाशील प्रकल्प की इमारत खड़ी करने में अपनी-अपनी ज़मीन दी। 18 मार्च 2010 को अस्तित्व में आए आर्ट 2020 के संस्थापक सदस्यों में देवीलाल पाटीदार, साजिद प्रेमी, हिमांशु जोशी, जयंत बैनर्जी, प्रदीप अहिरवार, निर्मला शर्मा, लीलामणि पिल्लई व रूपिंदर कौर शामिल हैं। ललित कला के विभिन्न स्वरूपों-चित्र, शिल्प, छापा, छायाचित्र, रेखांकन आदि से जुड़े प्रतिभाशाली कलाकारों के इस सृजनशील समूह ने विगत दिनों 18 से 24 सितंबर 2012 तक 'शेडो' शीर्षक से एक कला प्रदर्शनी का आयोजन किया।

भारत भवन में रूपाभ द्वारा संयोजित इस प्रदर्शनी में श्वेत-श्याम चित्र, शिल्प, छायाचित्र प्रदर्शित किये गए। प्रस्तुत पेंटिंग्स और छायाचित्रों की ख़ासियत, इनका श्वेत-श्याम होना थी। रंगों की वाचालता और उनके शोरगुल से परे शांति और एकांत की तलाश में विचरते से लगते हैं श्वेत-श्याम रंग। वास्तव में इस सृष्टि में बुनियादी दो ही रंग हैं। एक प्रकाश का, दूसरा अंधेरे का। सारे रंग इन्हीं दो मूल स्वरों के बीच की श्रुतियाँ भर हैं। श्वेत-श्याम की साधना दृष्टि के अचल और आरंभिक षड़ज की साधना है। जिसमें गहन नीरवता है, आध्यात्मिकता है और रंगों की कल्पनाएँ भी। इस समूह प्रदर्शनी में देवीलाल पाटीदार, साजिद प्रेमी, हिमांशु जोशी, रूपिंदर कौर, अजय शुक्ला, भावना जायसवाल, सैयद गुलरेज़ अली, शुभा भट्टी, सुनीता कोमल, अज़ीज़ ख़ान, रेखा भटनागर, विदूषी भटनागर, कालूराम, राजेन्द्र सिंह जादौन, प्रीतिदास, दीपक शर्मा (भोपाल), अवधेश वाजपेयी (होशंगाबाद), डॉ. प्रशांत स्थापक (गाड़रवाड़ा), आभा भारती (दमोह), रेखा गुर्टू (दिल्ली), रेखा सिंह, भारती दीक्षित, सुनीता तायड़े (इन्दौर), कामिनी बघेल (झाँसी), मीतू वर्मा (उज्जैन), एम. सादिक़ (खण्डवा) शामिल थे।

आर्ट 2020 कला समूह ने सृजन के नये आयाम गढ़ते हुए कई महत्वपूर्ण रंग दीर्घाओं में अपनी उपस्थिति दर्ज कराई है, जिनमें सितंबर 2010 में 'विन्यास' जहाँगीर आर्ट गैलरी (मुंबई), मार्च 2011 में 'एसेन्स', मंत्रा आर्ट गैलरी (अहमदाबाद), मई 2011 में 'वर्ण', बिड़ला एकेडमी ऑफ आर्ट्स (कोलकाता), सितंबर 2011 में 'इनफिनिटी', ललित कला अकादमी (नई दिल्ली), दिसंबर 2011 में 'इंपल्स' प्रीतमलाल दुआ आर्ट गैलरी (इंदौर), मार्च 2011 में 'इन सर्च ऑफ', स्वराज कला वीथिका (भोपाल), अप्रैल 2012 में, 'सरवाईवल', स्वराज कला वीथिका (भोपाल), नवंबर 2011 में 'बेटी बचाओ आंदोलन', चित्रकला प्रतियोगिता, रवींद्र भवन (भोपाल) प्रमुख हैं।

रजनी के रंग

चित्रकार की एकल चित्र प्रदर्शनी उसकी कला यात्रा का महत्वपूर्ण पड़ाव होती है। जिससे न केवल उसकी कला को सुदृढ़ पहचान मिलती है बल्कि चित्रकार को नए क्षितिजों के खोज की चुनौती भी मिलती है।

ऐसी ही गौरवपूर्ण अनुभूति रही भोपाल की युवा चित्रकार रजनी शिंगणे की, जब उनकी एकल चित्र प्रदर्शनी ललित कला अकादमी, नई दिल्ली की कला दीर्घा में आयोजित हुई। इस सात दिवसीय चित्र प्रदर्शनी का उद्घाटन वरिष्ठ कवि, कला आलोचक पद्मश्री केशव मलिक ने किया। उन्होंने रजनी के चित्रों की भरपूर सराहना करते हुए कहा कि ऐसी कृतियाँ जो कला आलोचकों का मुँह बंद कर दें, वे ही श्रेष्ठ हैं। प्रदर्शनी के अवलोकनार्थ कला जगत की कई हस्तियाँ एकत्र हुई थीं जिनमें कवि और कला चिंतक प्रयाग शुक्ल, ललित कला अकादमी के उपाध्यक्ष सुबन्ना, शिल्पकार लतिका, चित्रकार ए. रामचंद्रन, हेमराज, मनीष पुश्कले, पंकज मानव, धुमीमल आर्ट गैलरी की निदेशक उमा जैन तथा दिल्ली कॉलेज ऑफ आर्ट के कई मित्र उपस्थित थे।

वरिष्ठ चित्रकार यूसुफ़जी ने रजनी के केटलॉग में उनकी विशिष्टताओं को रेखांकित करते हुए लिखा है कि रजनी का दृष्टिकोण व्यापक है और चित्रों में भावपक्ष के प्रति संवेदनशीलता ही उनकी मौलिक पहचान है।

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

'जो नदी होती'

निसर्ग ने स्त्री को जन्मदात्री बनाया है। माँ होना उसका विशिष्ट गुणधर्म है। अतः वात्सल्य, करुणा, सहिष्णुता, कोमलता... स्त्री की प्रकृति हैं। स्त्री जब सृजन करती है तो ये स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ उसके कला सरोकारों के साथ एकात्म हो जाती हैं। इसलिए स्त्री अपनी कविताओं में शब्दों के संवेदनशील हाथों से पीड़ितों-शोषितों को माँ की तरह सहलाती दीखती है। विद्रूपताओं के ख़िलाफ़ उसका स्वर आक्रोश के रूप में फूटने की बजाए, बहुत धैर्य और करुणा से तमाम विकृतियों को सुधारने का काम करता है।

इस तरह स्त्री तमाम निराशाओं और पराजयों के बाद भी जीवन के नवोन्मेष का स्वप्न देखती है। स्त्री की इसी सृजनात्मक शक्ति को धारण कर युवा कवयित्री प्रज्ञा रावत की कविताएँ हमारे संसार में आती हैं। उनकी कविताओं का भाव संसार पाठकों को संवेदनशील बनाते हुए मानस को नए विचारों हेतु, ऊर्वर बनाता है। ये आश्वस्ति उनके पहले कविता संग्रह 'जो नदी होती' को पढ़ते हुए मिलती है। स्पंदन संस्था द्वारा आयोजित 'जो नदी होती' पर विचार गोष्ठी में प्रज्ञा ने कई महत्वपूर्ण कविताओं का पाठ किया। अध्यक्ष के रूप में डॉ. विजय बहादुर सिंह ने प्रज्ञा की कविताओं के समर्थन में कहा कि मूल्यों के भयावह विस्थापन और विश्वास की गहरी टूटन के बीच ये कविताएँ हमें आस्था और विश्वास से सम्पन्न करती हैं। इनमें भविष्य को लेकर निराशा नहीं, उसके पक्ष में छेड़ी गई लड़ाई की गहरी कशमकश है।''

अंतर्मन की बात

भवानी प्रसाद मिश्र की जन्मशती पर आकाशवाणी भोपाल का आयोजन

भारत भवन में कवित्त पुरुष भवानी प्रसाद मिश्र की जन्मशती के निमित्त आयोजित कार्यक्रम 'कविता मुझको लिखती है' हिन्दी प्रेमियों की नज़र में निश्चित ही बहुत प्रशंसनीय रहा। आकाशवाणी भोपाल की अगुआयी में सम्पन्न इस कार्यक्रम की अध्यक्षता वरिष्ठ आलोचक डॉ. विजय बहादुर सिंह ने की तथा प्रो. रमेश दवे, वरिष्ठ कवि राजेश जोशी, कवि आलोचक मनोहर वर्मा, साहित्य अकादमी नई दिल्ली में उपसचिव तथा वरिष्ठ लेखक डॉ. ब्रजेंद्र त्रिपाठी तथा कवि-लेखक प्रेमशंकर रघुवंशी (हरदा) ने भवानी प्रसाद मिश्र के योगदान को शिद्दत से रेखांकित किया।

अध्यक्षीय उद्‌बोधन में डॉ. सिंह ने कहा कि भवानी प्रसाद मिश्र पश्चिमीकरण के विरोध में भारतीय सत्य के कवि थे। निरंतर व्यवस्था परिवर्तन की माँग करने वाला यह कवि दरअसल एक क्रांतिकारी व्यवस्था का हिमायती था। वे गांधीवादी कवि थे, पर किस तरह? जैसा कि एक साक्षात्कार में उन्होंने स्वयं कहा था कि वे कुंजाल गांधीवादी हैं। डॉ. सिंह ने उनकी बहुचर्चित कविता 'सन्नाटा' में सत्ता, कला व कलाकार की मार्मिकता का उल्लेख किया और कहा क्रांतिकारी कला पर उनका विश्वास उजागर होता है। अपराजित हृदय वाले भवानी प्रसाद समझौते, अवसरवाद, अकर्मण्यता तथा अतिबौद्धिकता के कवि नहीं हैं।

वरिष्ठ कवि राजेश जोशी ने कहा कि नए तरह के तुकांत का नया विधान रचने वाले भवानी प्रसाद मिश्र को कहाँ और किस दौर में रखा जाए यह सुनिश्चित कर पाना कठिन है। नई कविता में अतिबौद्धिकता का आग्रह नहीं करने वाले भवानी भाई में एक ऐसा व्यक्तित्व देखा जा सकता है जो अस्मिता की लगातार खोज करता है। कहना गलत नहीं होगा कि रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा तथा धूमिल ने जो नई तुकांतता की ईजाद अपनी कविता में की है वह भवानी भाई के कुर्ते की जेब से निकली है। वे इसलिए एक महत्वपूर्ण कवि हैं क्योंकि उनके पास जनता से सीधे जुड़ने का काव्यशिल्प है।

आलोचक मनोहर वर्मा के अनुसार, खड़ी बोली के साहित्य के सौ वर्षों के इतिहास में उनके कद का कोई ऐसा कवि नहीं हुआ जिसने कविता को बोलचाल की भाषा के करीब ला दिया हो। श्री वर्मा ने भवानी प्रसाद मिश्र की कविता में उपस्थित कथात्मकता, प्रसंगता व नाटकीयता का ज़िक्र करते हुए उनका सुंदर विश्लेषण किया तथा कहा कि अनेक स्तरों पर भवानी भाई के यहाँ कविता और जीवन में अनूठा अंतर्सम्बंध स्थापित होता है।

डॉ. त्रिपाठी ने कहा कि दृश्य को शैली की अपेक्षा ज़्यादा महत्वपूर्ण मानने वाले भवानी प्रसाद मिश्र ने दूर की कौड़ी लाने की महत्वाकांक्षा कभी नहीं रही। उनकी कविता में उनका अनुभव व अनुभूति बोलती है। आख्यान लिखना उनका ध्येय नहीं था बल्कि अंतर्मन की बात लिखना ही उनका ध्येय रहा। भाषा को लेकर सजग इस कवि में आत्मा के स्वर गुथे हैं। भावात्मक विविधता के बीच उनके यहाँ जीवन का समूचा वैविध्य मौजूद है।

श्री प्रेमशंकर रघुवंशी ने भवानी प्रसाद मिश्र को अपने समय (भवानी प्रसाद मिश्र) का वेदव्यास बताते हुए कहा कि मिश्रजी एक तरह से श्लोक रचकर उसका विस्तार कराते चलते हैं। भारतीय पद्धति का यह महत्वपूर्ण कवि कविता लिखता नहीं बल्कि कविता कहता है।

शुरू में प्रो. रमेश दवे ने कहा कि भवानी प्रसाद मिश्र अपने तईं एक अनूठे कवि हैं जिन्हें पढ़ते हुए हम अपनेपन के बहुत नज़दीक होते हैं। वे नई ताज़गी के साथ भाषा तथा शिल्प की दृष्टि से नया विन्यास अपनाते थे।

आरंभ में आकाशवाणी भोपाल के उपनिदेशक श्री रामस्वरूप रतौनिया में मंचासीन अतिथियों का स्वागत किया। संचालन आकाशवाणी भोपाल में उद्‌घोषक राजुरकर राज ने किया तथा हिन्दी अधिकारी साकेत अग्निहोत्री ने आभार व्यक्त किया।

प्रस्तुति : वसंत सकरगाए

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

सुरों में डूबी यादगार शामें

आकाशवाणी भोपाल द्वारा उस्ताद अलाउद्दीन खाँ को समर्पित तीन दिनो ''आकाशवाणी शिखर संगीत समारोह'' का आयोजन शहर के समन्वय भवन में 2 से 4 जनवरी तक किया गया। सुर-ताल के मख़्तलिक रंगों से सजी महफ़िलें श्रोताओं को रस-आनंद के नए शिखरों की ओर ले गयी।

आकाशवाणी भोपाल के कार्यालय-कार्यक्रम प्रमुख तथा प्रसिद्ध तबला वादक पं. रामस्वरूप रतौनिया ने इस मौके पर कहा कि उस्ताद अलाउद्दीन खाँ के 150वें जन्मदिवस पर उनको समर्पित इस समारोह की कल्पना आकाशवाणी के महानिदेशक लीलाधर मण्डलोई ने की है। इसमें टॉप ग्रेड के कलाकार शिरक़त कर रहे हैं, जो ''अखिल भारतीय आकाशवाणी संगीत प्रतियोगिता'' में युवा कलाकार के तौर पर प्रथम पुरस्कार प्राप्त कर चुके हैं।

पहली सभा का आग़ाज़ सरोद के सुरों और गायन से हुआ। मुम्बई के प्रसिद्ध सरोद वादक पं. ब्रजनारायण ने सबसे पहले राग 'गावती' प्रस्तुत की, जिसमें विलम्बित गत और द्रुतगत तीन ताल में थी। इसके बाद उन्होंने राग 'कौशी कान्हड़ा' मध्य लयगत रूपक और एकताल में बजायी। पं. ब्रजनारायण की प्रस्तुति में अद्‌भुत संगीत कौशल तथा माधुर्य के साथ-साथ, वाद्य कला की बारीक़ियाँ उजागर हुईं। तबले पर मुम्बई के पं. सदानंद नायमपल्ली ने संगत की। सरोद के बाद कण्ठ संगीत का माहौल बना। कोलकाता के शास्त्रीय गायक पं. समरेश चौधरी ने प्रस्तुत दी। अपनी पहली प्रस्तुति में राग 'धर्मवती' पेश की। यह दक्षिण भारतीय राग है। जिसके बोल थे- 'प्रभु करो बेड़ा पार'। यह विलम्बित ख़्याल एक ताल में निबद्ध था, जबकि द्रुत ख़याल तीन ताल में था जिसके बोल थे- 'ऐ री मैं तो जागी सगरी रैन'। पं. समरेश ने इसके पश्चात् राग 'रंजिनी' प्रस्तुत की। रचना के बोल थे- 'नित्य मन कर हरि को सुमर'। पं. चौधरी ने अपनी तीसरी और अंतिम प्रस्तुति में राग 'उदय रविचंद्रिका' जिसे राग चक्रधर के नाम से भी जाना जाता है प्रस्तुत की। तीन ताल में निबद्ध इस बंदिश के बोल थे- 'बोलत कोयलिया डार-डार में'। इन तमाम प्रस्तुतियों में सुरों का संतुलन, मधुरता तथा गायकी में सुर और कण्ठ का बेहतर तालमेल था। वायलिन पर भोपाल के प्रवीण शेवलीकर, हारमोनियम पर इन्दौर के मोहन मूंगरे और तबले पर भोपाल के सलीम अल्लाहवाले ने संगत की।

दूसरी शाम बांसुरी और संतूर के नाम थी। टॉप ग्रेड बांसुरी वादक पण्डित राजेन्द्र प्रसन्ना ने अपनी पहली पेशकश 'राग मारवा' से की। बनारस घराने के इस मूर्धन्य वादक ने पूरबी धुन 'राग कहरवा' में प्रस्तुत कर अपने वादन का समापन किया। तबले पर वाराणसी के तबला वादक ललित कुमार ने संगत की।

सभा के चरण में दिल्ली से पधारे विश्व प्रसिद्ध संतूर वादक पण्डित भजन सोपोरी ने राग जोग में आलाप, जोड़ व झाला से शुरुआत की और बाद में तीन गतें पेश कीं। एक गत झपताल में, एक एकताल में तथा एक गत तीन ताल में थी। पं. सोपोरी ने अपने कार्यक्रम का समापन 'डोगरी' धुन से किया। तबले पर उस्ताद मोहम्मद अक़रम ख़ां ने संगत की।

समापन सभा में जुगलबंदी और तालवाद्यकचहरी की थाप ने संगीत रसिकों को खूब आनंदित किया। अंतिम दिवस की पहली प्रस्तुति में कोलकाता से आए टॉप ग्रेड सरोद वादक पं. राणाजीत सेनगुप्ता व कोलकाता के ही ए ग्रेड सितार वादक श्री असीम चौधरी ने सरोद व सितार की जुगलबंदी से कार्यक्रम की शुरुआत की। पण्डित राणाजीत सेनगुप्ता और असीम चौधरी ने सरोद और सितार की जुगलबंदी का आरंभ राग बागेश्री से किया। पहली रचना विलम्बित तीन ताल में, दूसरी गत द्रुत एक ताल में तथा तीसरी गत तीन ताल में निबद्ध थी। सरोद और सितार की जुगलबंदी का समापन राग खमाज़ की धुन से हुआ। आपके साथ दिल्ली के टॉप ग्रेड तबला वादक पं. सुधीर पाण्डेय ने तबले पर संगत की।

क़ाबिले गौर है कि जुगलबंदी की शुरुआत उस्ताद अलाउद्दीन ख़ाँ साहब ने सन् 1952 में की थी, तभी से जुगलबंदी का चयन आरम्भ हुआ और पंडित रविशंकर और उस्ताद अली अक़बर खाँ साहब ने अवाम् के बीच इसकी ख़ास जगह बनाई।

आकाशवाणी का संगीत समागम

तीसरी सभा की अंतिम प्रस्तुति में दिल्ली के उस्ताद राशिद मुस्तफ़ा ख़ाँ, इलाहाबाद के पख़ावज़ वादक पं. रविशंकर उपाध्याय दिल्ली के मृदंगम् वादक पं. ए. प्रेमकुमार और वैटरी भूपित तथा दिल्ली के घटम् वादक राममूर्ति ने तालवाद्यकचहरी से माहौल को नई गमक प्रदान की। सभी कलाकारों ने अपने-अपने घरानों के अनुसार सवाल-जवाब किये जो तीन ताल में निबद्ध थे। मुम्बई से आए ए ग्रेड सारंगी वादक फारुख़ ख़ान ने सारंगी पर लहरा दिया।

स्टूडियो की चहार दिवारी से बाहर श्रोताओं से सीधे संगीत संवाद की इस पहल का व्यापक स्वागत हुआ। सभाओं का संचालन सटीक संदर्भों के साथ क्रमशः परवीन कुरैशी, अनिल मुंशी और साहेब राव राजुरकर ने किया।

राजीव श्रीवास्तव

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

'पाठ' में कवि नरेन्द्र जैन

'कहीं कोई कालचक्र हो, कि साल दर साल यह उम्र घटती ही जाए, एक रोज़ तुम, आँखें खोलो और देखो कि स्लेट पर लिख रहे हो तुम एक नई बारहखड़ी' काल चक्र शीर्षक से समय के महत्व को रेखांकित करती इस रचना का पाठ किया वरिष्ठ हिन्दी कवि नरेन्द्र जैन ने। मौका था भारत भवन में कविता केन्द्र वागर्थ की पाठ श्रृंखला का। इस कार्यक्रम में विदिशा से आए कवि नरेन्द्र जैन ने घटना चक्र, अच्छा ख़राब होता हुआ, शब्द छूट जाते हैं, कविता और पियानो सहित कई कविताओं का भी पाठ करते हुए अमेरिका पर राजनीतिक व्यंग्य किये। उन्होंने बताया कि गिनीज बुक में नाम दर्ज करने के लिए वहाँ कई अनूठे काम किए जाते हैं। वहाँ सबसे बड़ा पिज्ज़ा बनाया जाता है, तो अमेरिका वासियों की भूख भी बड़ी है वे सब कुछ डकार सकते हैं। जैन ने बताया कि अमेरिका में प्रकाशित होने वाला 48 पेज का एक अख़बार एरिजोना टाइम्स करीब तीन फीट लंबा होता है। इसके 48 पेजों में तो सिर्फ विज्ञापन होते हैं। वे इसमें श्रद्धांजलि वाला पेज ख़ासतौर पर पढ़ते थे। इस अख़बार पर केन्द्रित 'एरिजोना टाइम्स' कविता की पंक्तियाँ थीं... 'अमेरिका कुछ नहीं बनाता, उसके कारखाने सिर्फ एक ही चीज़ बनाते हैं- हथियार, हर क़िस्म के हथियार, जैविक हथियार और रासायनिक हथियार।'

श्रोताओं को जैन की कविताएं बहुत पसंद आईं। उल्लेखनीय है कि हिन्दी के वरिष्ठ कवि नरेन्द्र जैन के अनेक कविता संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें 'दरवाज़ा खुलता है', 'तोता के लिए कविताएं', 'यह मैं हूँ पत्थर', 'सराय में कुछ दिन', 'काला सफेद में प्रविष्ट होता है', 'चौराहे पर लोहार' आदि शामिल हैं। नरेंद्र जैन कहानियाँ भी लिखते हैं। उन्हें माखनलाल चतुर्वेदी पुरस्कार, विजय देव नारायण साही पुरस्कार, रघुवीर सहाय स्मृति पुरस्कार सहित कई सम्मानों से अलंकृत किया जा चुका है।

शिमला में शरद रंग उत्सव

भाषा एवं संस्कृति विभाग हिमाचल प्रदेश व गेयटी ड्रामेटिक सोसाइटी शिमला ने पिछले दिनों ऐतिहासिक गेयटी थिएटर में शरद रंग उत्सव का आयोजन किया। शुरुआत नाट्यानुकृति की नाट्य प्रस्तुति फिर याद आए पापा से हुई। समारोह में एक्टिव मोनाल थियेटर कुल्लू ने राणा झीणा, युवक मंडल भलावग ने करवट, प्लेटफार्म थियेटर ग्रुप शिमला ने द टाइपिस्ट, मुस्कान थियेटर ग्रुप ने बांका, अब थियेटर ग्रुप ने बिल्लियाँ बतियाती हैं, समन्वय थियेटर ग्रुप ने एक था गधा उर्फ अलादाद ख़ाँ, अमर ज्योति ग्रुप पाहल ने छनकू राम, सूफी थिएटर ग्रुप ने ख़ुदकुशी, ब्रिजेवर कला मंच ने गांव का लम्बरदार, अभिलाषा थियेटर ग्रुप ने कॉफी हाउस, अभिनय दर्पण थियेर ने द स्वान सांग (हंस गीत), द बिग्नर ने गॉड सीज़ द ट्रुथ बट वेट्स, हिमाचल सांस्कृतिक शोध संस्थान मंडी ने अफ़साना निगार, फ्लेम थियेटर ग्रुप ने नवोन्वेश, परफॉरमेंस ग्रुप ऑफ आर्ट रामपुर ने धूप का टुकड़ा, ब्लू बर्ड एजुकेशन सोसाइटी कुल्लू ने द लास्ट लीफ तथा बहस थियेटर ग्रुप ने नागिन तेरा वंश बढ़े का मंचन किया।

समारोह की ख़ास बात यह रही कि हिमाचल प्रदेश के रंगकर्मियों के साथ ही उत्तर प्रदेश की दो नाट्य संस्थाओं ने भी नाट्य प्रस्तुतियों के मंचन किये। 19 नवंबर को अनुकृति रंगमंडल कानपुर द्वारा मंचित रंगनाथ की वापसी (श्री लाल शुक्ल के प्रसिद्ध उपन्यास राग दरबारी पर आधारित प्रो. गिरीश रस्तोगी का रूपांतरण/निर्देशन सुरेश श्रीवास्तव) का पूरा कथानक शिवपालगंज में घटित होता है। यहाँ कॉलेज, कोऑपरेटिव यूनियन एवं ग्राम सभा के ज़रिये वैद्य जी (महेन्द्र धुरिया) सत्ता का संचालन करते हैं। कॉलेज के प्रिंसिपल (राजीव तिवारी), सनीचरा (शेखर नानकशाही), बद्री (अनिल निगम), छोटे (उमाकांत मौर्य), मास्टर मोतीराम (विनोद श्रीवास्तव), जोगनाथ वैद्य जी के प्रबल समर्थक हैं तो खन्ना (दीपक राज राही) व मिसेज मालवीय (श्रीमती जौली घोष) सरीखे मास्टर या रामाधीन उनके विरोधी और समय समय पर मौका मिलते ही उनकी सत्ता को चुनौती देने की कोशिश में लगे रहते हैं। शहर से कुछ दिनों के लिए आया वैद्य जी का पढ़ा-लिखा भांजा रंगनाथ (आशीष मिश्रा) हर घटनाक्रम का साक्षी है साथ ही वो अपने मामा (वैद्य जी) के बेटे रुप्पन (अजय चौहान) के साथ मिलकर ग़लत बातों का विरोध भी करता है। कॉलेज की प्रबंध समिति के उपाध्यक्ष गयादीन (मनोहर सुखेजा) की बेटी बेला (आकांक्षा सिंह) के साथ वैद्य जी के बड़े बेटे बद्री का प्रेम प्रसंग चल रहा है हालांकि बद्री का छोटा भाई रुप्पन भी बेला को प्रेम पत्र भेज उसके क़रीब आने की क़ोशिश में लगा है। बद्री पहलवान का चेला छोटे मुंहफट और अक्खड़ स्वभाव का है उसकी अपने पिता कुसहर (रवींद्र कुमार वर्मा) के साथ भले ही आये दिन नोंकझोंक/गाली गलौच या मारपीट होती रहती हो मगर कोई और व्यक्ति उसके पिता को कुछ कहे तो यह छोटे को क़तई बर्दाश्त नहीं। वैद्य जी का कृपा पात्र सनीचर (हालांकि इसका वास्तविक नाम मंगलदास है) ग्राम प्रधान बन जाता है तो कॉलेज में अपने विरोधी मास्टर खन्ना और मिसेज मालवीय से वैद्य जी जबरन इस्तीफा लिखवा लेते हैं।

हिन्दी कविता के मूर्धन्य हस्ताक्षर
पं. भवानी प्रसाद मिश्र के
कृती-व्यक्तित्व पर

कला समय

का एक दस्तावेज़ी अंक

सम्पादक
विनय उपाध्याय
ई-मेल :
vinay.srujan@gmail.com

- एम.एक्स. 135, ई-7 अरेरा कॉलोनी,
भोपाल-462016
मो. 09826392428

- जे.-192, मंगल भवन, ई-6 अरेरा कॉलोनी,
भोपाल-462016

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

विरोधी तेवर के चलते रुप्पन को अपने पिता (वैद्य जी) से कुछ हासिल नहीं होता, वहीं दूसरी ओर अपने बाद बद्री को कॉलेज का मैनेजर बनाने का ऐलान वैद्य जी कर देते हैं। नाटक में महेश (लंगड़), डॉ. ओमेन्द्र कुमार (सरपंच/जज), सुरेश छोटू (क्लर्क), दिनेश अधिकारी (बैजनाथ), शीबू ख़ान (वकील), अभय श्रीवास्तव/हर्षित (छात्र), अनिल गौड़, संदीप व प्रमोद शर्मा ने भी बेहतरीन अभिनय किया।

अगले दिन अनुकृति के ही कलाकारों ने प्रसिद्ध नाटक बकरी (नाटककार सर्वेश्वर दयाल सक्सेना/निर्देशन राजीव तिवारी का मंचन किया। दोनों ही नाटकों की प्रस्तुति एवं परिकल्पना वरिष्ठ रंगकर्मी डॉ. ओमेन्द्र कुमार की थी। इसी क्रम में विनोद रस्तोगी स्मृति नाट्य संस्थान इलाहाबाद ने क्रमशः बंटवारे की आग तथा चंदनवन का बाघ का मंचन किया। नाट्य मंचनों की 23 दिवसीय इस लंबी श्रृंखला के आयोजन के लिए निश्चित रूप से भाषा एवं संस्कृति विभाग हिमाचल प्रदेश की निदेशक राकेश कंवर, सुदर्शन शर्मा प्रबंधक गेयटी थिएटर व अनिल जायसवाल को साधुवाद। **-ओमेन्द्र कुमार**

लालसोट में ग्यारह साहित्यकारों का सम्मान

अनुराग सेवा संस्थान लालसोट दौसा, राजस्थान द्वारा संस्कृत महाविद्यालय में देश के 11 साहित्यकारों को उनकी विभिन्न विधा की साहित्यिक कृतियों के लिये 'अनुराग साहित्य सम्मान 2012' प्रदान किया गया।

शरद तैलंग को उनके व्यंग्य संग्रह 'गुस्से में है भैंस, वरिष्ठ साहित्यकार ब्रजेन्द्र कौशिक को काव्य संग्रह 'किस घाट उतरें', कथाकार अरनी रॉबर्ट्स को कहानी संग्रह 'रास्ते अपने अपने', भगवती प्रसाद कुलश्रेष्ठ को 'फिर पलाश दहके', डॉ. बानो सरताज को 'एक अनार सौ बीमार', विजया गोस्वामी को 'माँ होने का सुख', कमल कपूर को 'नीम अब भी हरा है', राम दयाल मेहरा को 'नाविक होता पार नहीं', अशोक यादव को 'लघु सी कथाएँ', डॉ. प्रमोद कोवप्रत को 'धरती और धड़कन तथा राजीव व्यास को 'छोटी बात बड़ी बात' कृतियों के लिये सम्मानित किया गया। इन्हें सम्मान स्वरूप 2100 रुपये नकद, प्रशस्ति पत्र, स्मृति चिन्ह, शॉल, नारियल एवं क़लम भेंट की गई। मुख्य अतिथि प्रसिद्ध साहित्यकार एवं कला समीक्षक हेमंत शेष तथा अध्यक्ष लालसोट नगर पालिका के चेयरमेन दिनेश मिश्रा थे। कार्यक्रम का संयोजन विनीत उपाध्याय ने किया।

कथाकार परदेशीराम सम्मानित

भारत के राष्ट्रपति श्री प्रणव मुखर्जी द्वारा छत्तीसगढ़ राज्योत्सव के अवसर पर नये रायपुर में कथाकार परदेशीराम वर्मा को सम्मानित किया गया। पं. सुन्दरलाल शर्मा साहित्य सम्मान से अलंकृत करते हुए बस्तर के शिल्पियों द्वारा निर्मित अष्टधातु का ताम्रपत्र तथा 2,00,000 रु. (दो लाख) की राशि उन्हें सम्मान स्वरूप दी गई।

छत्तीसगढ़ राज्य द्वारा प्रदत्त यह साहित्य सम्मान हिन्दी एवं आंचलिक साहित्य में सुदीर्घ साधना के लिए दी जाती है। सम्मान के अवसर पर राज्यपाल शेखर दत्त, मुख्य मंत्री डॉ. रमन सिंह, उपस्थित थे। उल्लेखनीय है कि परदेशीराम वर्मा म.प्र. साहित्य परिषद् द्वारा प्रख्यात कलाकार देवदास बंजारे की जीवनी ''आरूग फूल'' के लेखन के लिए माधवराव सप्रे सम्मान 1997 में प्राप्त कर चुके हैं। हिन्दी के अपने प्रथम उपन्यास 'प्रस्थान' के लिए महंत अस्मिता पुरस्कार प्राप्त परदेशीराम वर्मा को पं. रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय द्वारा 2003 में उल्लेखनीय साधना के लिए डी.लिट्. की मानद उपाधि दी गई।

'गुस्से में है भैंस' का लोकार्पण

कोटा में राजस्थान साहित्य अकादमी उदयपुर तथा 'काव्य मधुवन' संस्था कोटा द्वारा आयोजित दो दिवसीय 'अखिल भारतीय व्यंग्य समारोह' में व्यंग्यकार शरद तैलंग के व्यंग्य संग्रह 'गुस्से में है भैंस' का लोकार्पण प्रसिद्ध व्यंग्यकार हरीश नवल तथा प्रदीप पंत ने किया। इस संग्रह में तैलंग के 23 व्यंग्य शामिल हैं। समारोह में कोटा के साहित्यकारों के अलावा पूरे देश से आये हुए लगभग 21 से अधिक व्यंग्यकार, राजस्थान साहित्य अकादमी के अध्यक्ष वेद व्यास, व्यंग्य यात्रा के सम्पादक डॉ. प्रेम जन्मेजय तथा काव्य मधुवन के अध्यक्ष डॉ. अतुल चतुर्वेदी विशेष रूप से उपस्थित थे।

'सुरख़ाब के पर' लोकार्पित

वर्धा में गाँधी विचार परिषद वर्धा द्वारा अकोला के वरिष्ठ हिन्दी साहित्यकार एवं कवि प्रो. मणि खेड़ेकर भट्ट के द्वितीय व्यंग्य संग्रह 'सुरख़ाब के पर' का लोकार्पण एवं विमोचन कार्यक्रम महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय के कुलपति एवं वरिष्ठ साहित्यकार लेखक समालोचक डॉ. विभूतिनारायण राय के हाथों सम्पन्न हुआ। डॉ. विभूतिनारायण राय ने संग्रह को व्यंग्य विधा का एक परिपक्व दस्तावेज़ बताते हुये खेड़ेकर के लेखन की सराहना की। प्रो. मणि ने अपना मनोगत व्यक्त करते हुये कहा कि अब व्यंग्य विधा अपना मुक़म्मल स्थान प्राप्त कर चुकी है। व्यंग्य काफ़ी पढ़ा एवं सुना जा रहा है।

आयोजन गांधी विचार परिषद वर्धा के निदेशक भरत महोदय द्वारा किया गया था। कार्यक्रम में वर्धा के गणमान्य नागरिक साहित्यकार एवं कवि मौजूद थे जिनमें डॉ. गुप्ता, ज्येष्ठ साहित्यकार हेमचंद्र वैद्य, इब्राहिम रश्क़, सुनील खेड़ेकर, डॉ. जैन, प्राचार्य एवं साहित्य प्रेमी उपस्थित थे। आभार श्री वेखंडे एवं संचालन भरत महोदय ने किया।

नवसाक्षर साहित्यलेखन कार्यशाला

साक्षर भारत अभियान के अन्तर्गत राज्य संसाधन केन्द्र भोपाल (रिसोर्स सेंटर फार एडल्ट एण्ड कंटिन्यूईंग एजूकेशन) द्वारा केन्द्र के चूनाभट्टी कोलार रोड स्थित सभागार में दो दिवसीय राज्य स्तरीय नवसाक्षर साहित्य लेखन कार्यशाला सम्पन्न हुई। कार्यशाला के प्रथम दिन वरिष्ठ अतिथि के रूप में रंग संवाद पत्रिका के सम्पादक विनय उपाध्याय उपस्थित थे। केन्द्र की पत्रिका 'आखर संदेश' के सम्पादक व केन्द्र निदेशक श्री संजय राठौर सहित अन्य उपस्थित साहित्यकारों ने माँ सरस्वती के चित्र पर माल्यार्पण व दीप प्रज्वलित कर कार्यक्रम का विधिवत शुभारंभ किया। उपस्थित वक्ताओं ने नव साक्षर शिक्षा के महत्व पर प्रकाश डालते हुए उनके जीवन को

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

बेहतर बनाने के लिए शिक्षा की आवश्यकता को रेखांकित किया। देश भर में चलाए जा रहे इस साक्षरता अभियान के लिए शिक्षण सामग्री किन विषयों तथा किस भाषा में लिखी जाए, इसका उल्लेख भी उपस्थित वक्ताओं ने किया।

इस दो दिवसीय कार्यशाला में लेखकों ने अपने अनुभव एक दूसरे को बांटे तथा नव साक्षरों के लिए, तय किए गए विषयों पर रोचक, महज, सरल भाषा में रचनाएं लिखकर दूसरे को सुनाई गई व उसमें सुधार के संकेत भी दिये। इस कार्यशाला में जिन साहित्यकारों ने भाग लिया उन्हें, 'साक्षरता मित्र सम्मान' से केन्द्र द्वारा सम्मानित किया गया। इस कार्यशाला में जिन साहित्यकारों ने भाग लिया उनमें प्रमुख थे श्री राजेश कुमार साहू (पिपरिया होशंगाबाद), श्री घनश्याम मैथिल 'अमृत' (भोपाल), श्री बंशीलाल परमार (सुवासरा), श्री लायकराम मानव (लखनऊ), डॉ. बाबूराव गुजरे (भोपाल), श्री अशोक सिंह (भोपाल), श्री इस्माइल लहरी (इंदौर), श्री चन्द्रभान राही, श्री जगदीश किंजल्क, श्री मनोज मिश्रा, डॉ. अनिता सिंह चौहान, सुश्री सुधा रावत क्षमा, सुश्री सरोजा शिल्पी, (भोपाल), सुश्री नियति सप्रे (इंदौर), श्री आशीष दाशोत्तर (रतलाम), श्री जगदीश ज्वलंत (महिदपुर), श्री गोविंद सेन (धार), डॉ. सीमा शाहजा (झाबुआ), श्री आशु (भोपाल) इस कार्यक्रम में केन्द्र के श्री राजू वानखेड़े ने जनकवि बाबा नागार्जुन की कविता प्रस्तुत कर सबका मन मोह लिया। कार्यक्रम में संस्था के सभी मित्रों का सक्रिय सहयोग रहा। कार्यक्रम के अंत में श्री संजय सिंह राठौर ने सभी का आभार व्यक्त किया।

पाठक मंच कार्यशाला

साहित्य अकादमी मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद् द्वारा भारत भारतीय आवासीय विद्यालय जामठी बैतूल में दो दिवसीय पाठक मंच कार्यशाला सम्पन्न हुई। सतपुड़ा की सुरम्य पर्वत श्रृंखलाओं के प्राकृतिक, मनोरम एवं आत्मीय वातावरण में यह कार्यशाला अपने उद्देश्य में पूर्णतः सफल रही। कार्यक्रम के प्रथम दिन शुभारंभ सत्र में बैतूल हरदा क्षेत्र की लोकप्रिय सांसद श्रीमती ज्योति धुर्वे मुख्य अतिथि के रूप में उपस्थित थीं तथा मंच पर श्रीधर पराड़कर (ग्वालियर) व श्रीकृष्ण कुमार अष्ठाना (इंदौर) अध्यक्ष मंडल के सदस्य के रूप में उपस्थित थे। कार्यक्रम की शुरुआत हमारे जिले की साहित्य परम्परा विषय पर परिचर्चा से हुई, जिसमें विभिन्न पाठक मंचों के संयोजकों ने अपने-अपने जिलों की साहित्यिक परम्परा का विस्तार से वर्णन किया। इसी क्रम में कार्यक्रम के दूसरे सत्र की अध्यक्षता डॉ. प्रेम भारती व प्रो. रामेश्वर मिश्र पंकज ने की, तथा इस सत्र में भी यह परिचर्चा निरन्तर जारी रही। रात्रि में विद्यालय के छात्रों ने निर्देशक श्री नेतराम के निर्देशन में रूसी बैले नृत्य

'रंग संवाद' पुरस्कृत

भारत भवन (भोपाल) में आयोजित एक आत्मीय समारोह में दुष्यंत संग्रहालय की ओर से स्थापित आचार्य विद्या निवास मिश्र पुरुस्कार वनमाली सृजन पीठ की संवाद पत्रिका 'रंग संवाद' को प्रदान किया गया। प्रख्यात अभिनेता पद्मश्री टॉम आल्टर और उपन्यासकार मंज़ूर एहतेशाम से पुरस्कार ग्रहण करने के उपरांत रंग संवाद के संपादक विनय उपाध्याय तथा 'सद्भावना दर्पण' के संपादक गिरीश पंकज।

भारत भवन (भोपाल) में दुष्यंत संग्रहालय के अलंकरण समारोह में अभिनेता टॉम आल्टर ने अत्यंत भावुक होकर अपने अतीत और अपने शुभचिंतकों को याद किया। टॉम ने कहा कि दुष्यंत कुमार संग्रहालय बेमिसाल है। इस मौके पर मास्टर ब्लास्टर सचिन तेंदुलकर का उल्लेख करते हुए भावुक हो गए। इस अवसर पर सम्मानित वरिष्ठ पत्रकार विष्णु नागर ने कहा कि डॉ. धर्मवीर भारती के नाम पर पुरस्कार मिलने का अर्थ है अपनी रचनात्मक जिम्मेदारी को और गम्भीरता से अनुभव करना। निदेशक राजुरकर राज ने संचालन किया। अलंकरण समारोह के मुख्य अतिथि मंजूर एहतेशाम ने सम्मानित साहित्यकारों को बधाई दी और बताया कि उत्कृष्ट सृजन की सामाजिक स्वीकृति है और वही दायित्व का अहसास भी।

संग्रहालय की ओर से पद्मश्री टॉम आल्टर को विशिष्ट सेवा सम्मान एवं मैथिली साहित्यकार डॉ. विभूति आनन्द को आंचलिक रचनात्मक सम्मान दिया। विद्या निवास मिश्र पुरस्कार वनमाली सृजन पीठ भोपाल की पत्रिका रंग संवाद के सम्पादक विनय उपाध्याय को, धर्मवीर भारती पुरस्कार दिल्ली की पत्रिका शुक्रवार के सम्पादक विष्णु नागर, माखनलाल चतुर्वेदी पुरस्कार रायपुर की पत्रिका सद्भावना दर्पण के संपादक गिरीश पंकज, भारतेन्दु हरिश्चंद्र पुरस्कार आईडीबीआई बैंक मुम्बई की पत्रिका विकास प्रभा के संपादक डॉ. सुनील कुमार लाहोटी को और राजभाषा उत्कृष्टता पुरस्कार एनएचडीसी लिमिटेड भोपाल को दिया गया।

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

कृष्ण लीला तथा श्री अटल बिहारी वाजपेयी की कविता 'हम जंग न होने देंगे' की मोहक सांगीतिक प्रस्तुति दी। कार्यक्रम के दूसरे दिन प्रातः के सत्र में श्री श्रीधर पराड़ करके मुख्य आतिथ्य में तथा डॉ. के.बी.एल. पाण्डेय (दतिया) तथा श्री हरिविष्णु अवस्थी (टीकमगढ़) के अध्यक्षता में पाठक मंच केन्द्र संयोजकों द्वारा संवाद का आयोजन किया गया। कार्यक्रम के समापन सत्र के मुख्य अतिथि डॉ. देवेन्द्र दीपक तथा विशिष्ट अतिथि क्षेत्रीय विधायक श्री अल्केश आर्य थे। अध्यक्ष मंडल में श्री कैलाशचंद पंत (भोपाल) श्री लक्ष्मी नारायण शोभन (गुना) तथा श्रीमती क्रांति जी सम्पादक साहित्य क्रांति विशेष रूप से उपस्थित थी। इसमें पाठक मंच केन्द्र संयोजकों ने अपनी समस्या एवं सुझाव मंच के सम्मुख रखे। इस आयोजन में डॉ. चंद्रशेखर त्रिपाठी (बैतूल) श्री अश्विनी कुमार दुबे (पन्ना), डॉ. बहादुर सिंह परमार (छतरपुर), श्री हरनाम सिंह चांदवानी (मंदसौर), डॉ. कामिनी (दतिया), श्री मनोज स्वर्ण (भिण्ड), श्री प्रगीत शर्मा (गुना), श्री रामसेवक सोनी (अशोकनगर), श्री श्याम बिहारी सक्सेना (भोपाल) आदि ने सक्रिय भूमिका निभाई।

प्रभात की कृतियां लोकार्पित

अभी भी साथ है पीड़ा, अभी भी गम नहीं छूटा, हाथों से मेरे गीत का परचम नहीं छूटा... अपने कविता कर्म की इस ईमानदार अभिव्यक्ति के साथ हिन्दी के लोकप्रिय गीतकार दिनेश प्रभात अपनी दो नई किताबों की सौग़ात लिए भोपाल की साहित्यिक बिरादरी से पेश आये।

सुभाष उत्कृष्ट विद्यालय भोपाल के सभागार में आयोजित एक आत्मीय समारोह में प्रख्यात गीतकार नचिकेता, व्यंग्य कवि माणिक वर्मा, वरिष्ठ पत्रकार महेश श्रीवास्तव ने प्रभात के गीत संग्रहों 'चन्दा तेरे गाँव' और 'ये हवा से बोल देना' तथा साहित्यिक पत्रिका 'गीत गागर' के प्रवेशांक का लोकार्पण किया। वक्ताओं ने अपने उद्बोधन में प्रभात की लम्बी काव्य साधना को रेखांकित करते हुए कहा कि इस रचनाकार ने गीतों के बहाने जीवन के सुख-दुख का संगीत गुनगुनाया है। उन्होंने प्रयोग के नाम पर कविता की सहज प्रकृति को छेड़े बिना छंद की गरिमा और भाव-रस को बरकरार रखा है। सांस्कृतिक संस्था मधुवन और सुभाष एक्सिलेंस स्कूल के सहयोग से हुए इस समागम में राँची से आई सुपरिचित कवयित्री डॉ. यशोधरा राठौर, साधना बलवटे, जंग बहादुर श्रीवास्तव, सुनीता खत्री ने भी अपने विचार प्रकट किये।

इस मौके पर दिनेश प्रभात ने कहा कि ज़िंदगी में जो भी अनुभव मेरे अंतरतम को आंदोलित करते रहे उन्हें मैंने गीतों और ग़ज़लों में उतारकर राहत महसूस की। मेरी कविता अगर बेशुमार पाठकों और सुनने वालों का भी सुकून बनी है तो ये मेरे रचनाकर्म की सार्थकता है। छंद को मैंने हर जगह महसूस किया है। सारी दुनिया छंद में ही रची-बसी है। उन्होंने 'गीत गागर' की ज़रूरत को साफ करते हुये कहा कि यह पत्रिका गीत विधा की पक्षधर होकर भी साहित्य की सभी विधाओं को बराबरी की हैसियत से स्थान देगी।

समारोह के सूत्रधार कला समीक्षक विनय उपाध्याय ने प्रभात के कृति-व्यक्तित्व के कई जाने-अनजाने पहलुओं पर रौशनी डालते हुए कहा कि इस कवि ने साहित्यिक खेमेबाजी और जातिवाद से परे अपनी रचनात्मक निष्ठा और नैतिकता का हमेशा सम्मान किया। सुभाष स्कूल के प्राचार्य राजेश तिवारी ने स्वागत किया।

भारत भवन में 'कविता प्रसंग'

भोपाल स्थित बहुकला केन्द्र भारत भवन में पाठ और विमर्श पर केन्द्रित तीन दिवसीय कविता प्रसंग नामक वृहद समारोह आयोजित किया गया। इसका उद्घाटन वरिष्ठ आलोचक-कवि रमेशचन्द्र शाह के शुभारंभ वक्तव्य से हुआ। शाह ने अपने उद्घाटन वक्तव्य में आज के कवि के लिए प्राचीन भारतीय काव्य संपदा का गहरा ज्ञान होना और उससे मुकम्मल रिश्ता भी बनाकर चलना जरूरी माना और कहा कि समकालीनता के साथ-साथ अतीत की रचनाशीलता की समझ कवि के लिए उपयोगी अर्हता है।

भारत भवन में अग्रणी कवि कथाकारों पर एकाग्र कई प्रसंग या समारोह आयोजित किए गए हैं जिनकी साहित्य समाज में समय-समय पर चर्चा और प्रतिष्ठा भी हुई है लेकिन विधा विशेष पर एकाग्र आयोजन पहली बार कविता प्रसंग नाम से भारतीय कविता केन्द्र वागर्थ द्वारा आयोजित किया गया था। इस समारोह में कविता पाठ के पाँच सत्र आयोजित हुए जिसमें वरिष्ठतम पीढ़ी से लेकर युवा पीढ़ी के कवियों ने अपनी कविताओं का पाठ किया। जिन कवियों ने अपनी कविताओं का पाठ किया उनमें विनोद कुमार शुक्ल, ज्योत्सना मिलन, गगन गिल, एकांत श्रीवास्तव, प्रेमरंजन अनिमेष, गीत चतुर्वेदी, यतीन्द्र मिश्र, लीलाधर जगूड़ी, प्रयाग शुक्ल, राजेन्द्र उपाध्याय, बोधिसत्व, श्रीप्रकाश शुक्ल, नंदकिशोर आचार्य, नरेश सक्सेना, लीलाधर मंडलोई, अष्टभुजा शुक्ल, वीणा सिन्हा, नवल शुक्ल, अनिरुद्ध उमट, महेन्द्र गगन, ओमभारती, प्रताप राव कदम, नरेन्द्र जैन, ध्रुव शुक्ल, पंकज राग, आशुतोष दुबे, राग तेलंग शामिल हैं। यह समारोह समकालीन हिन्दी कविता की वर्तमान स्थिति का जायजा लेने की दृष्टि से भी गरिमापूर्ण कहा जा सकता है। कविता प्रसंग नामक समारोह में दो वैचारिक सत्र भी रखे गये थे। जिसमें पहला सत्र 'मानवीय मूल्य और समकालीन हिन्दी कविता का आत्म संघर्ष' विषय पर था। इस सत्र की अध्यक्षता प्रख्यात आलोचक कृष्णदत्त पालीवाल ने की और विषय पर विद्वान वक्ताओं नंदकिशोर आचार्य, लीलाधर मंडलोई, सुधीर रंजन सिंह आदि ने अपने विचार रखे।

समारोह का दूसरा वैचारिक सत्र 'समकालीन हिन्दी कविता की स्मृति में जगह' विषय पर था। इस सत्र की अध्यक्षता वरिष्ठ आलोचक विजय बहादुर सिंह ने की और जिन प्रतिष्ठित लेखकों ने अपने विचार रखे उनमें नरेश सक्सेना, प्रयाग शुक्ल, अरुण कमल, कृष्ण मोहन, प्रमोद कुमार तिवारी आदि शामिल रहे।

उल्लेखनीय है कि समकालीन हिन्दी कविता की यात्रा को इस आयोजन के माध्यम से देखने-सुनने और समझने का एक व्यवस्थित सुयोग बन सका और हिन्दी के लगभग सभी पीढ़ियों के रचनाकारों के बीच आपसी संवाद और विमर्श का अवसर भी कविता प्रसंग नामक तीन दिवसीय समारोह के बहाने मिल सका।

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

तेजेन्द्र पर फिल्म

भोपाल आना एक सुखद अहसास है। पाण्डुलिपि संग्रहालय दुष्यंत कुमार की गतिविधियाँ हमें लन्दन में भी अपनी निरन्तरता का आभास देती हैं। -यह कहना है लन्दन निवासी साहित्यकार तेजेन्द्र शर्मा (कथाकार, कवि एवं गजलकार), काउंसलर जकिया जुबैरी (कथाकार, कवयित्री) और डॉ. निखिल कौशिक (कवि, फिल्मकार) का। वे दुष्यन्त कुमार स्मारक पाण्डुलिपि संग्रहालय में राजधानी के साहित्यकारों के रूबरू थे। इस अवसर पर तेजेन्द्र शर्मा पर निर्मित की गई फिल्म की डीवीडी का लोकार्पण वरिष्ठ कवि एवं राज्य पुरातत्व संग्रहालय के आयुक्त श्री पंकज राग द्वारा किया गया। इस फिल्म का निर्माण डॉ. निखिल कौशिक ने किया है।

आरम्भ में संग्रहालय की ओर से पुस्तक और पुष्प से अतिथियों का स्वागत किया गया। संग्रहालय निदेशक राजुरकर राज ने संग्रहालय और उसकी परम्परा को रेखांकित किया लन्दन में कार्यरत वरिष्ठ नेत्र चिकित्सक डॉ. निखिल कौशिक ने फिल्म की रूपरेखा प्रस्तुत की।

'ग़ज़लायन'

'ग़ज़ल, दुनिया की सारी जबानों की कविता में जितने भी फार्म हैं, उनकी बादशाह हैं' -ये उद्‌गार ग़ज़लायन : 3 की अध्यक्षता कर रहे रचनाधर्मी श्री श्याम मुंशी ने व्यक्त किये। उन्होंने कहा कि ग़ज़ल सबसे हसीन है और सबकी मेहबूबा है। गोहना मोहम्मदाबाद उत्तर प्रदेश से पधारे प्रतिष्ठित गजलकार डॉ. मधुर नज्मी कार्यक्रम के मुख्य अतिथि थे। उन्होंने इस अवसर पर कहा कि हिन्दी ग़ज़ल अपनी आस्था और निष्ठा में गीत की कोख से जन्मी है, गीतात्मकता और गीतीय सात्विकता को छोड़कर हिन्दी ग़ज़ल का कोई वजूद नहीं है।

स्वागत वक्तव्य में कार्यक्रम के संयोजक डॉ. किशन तिवारी ने 'ग़ज़लायन' के उद्देश्य उसकी भूमिका एवं भविष्य की योजनाओं के बारे में विस्तार से प्रकाश डाला। 'समकालीन हिन्दी ग़ज़ल : एक विमर्श' पर अनवारे इस्लाम, जहीर कुरेशी आदि ने भी अपने विचार रखे। कार्यक्रम के दूसरे चरण में मयंक श्रीवास्तव, शिवकुमार अर्चन, बद्र वास्ती, शाहिद समर एवं विदिशा से पधारे सुरेन्द्र श्रीवास्तव ने समकालीन ग़ज़लों का पाठ किया। संचालन गजलकार महेश अग्रवाल ने किया तथा आभार प्रदर्शन सुभाष दुबे ने किया।

मण्डलोई और सुधीर को प्रमोद वर्मा सम्मान

हिन्दी के कवि एवं आकाशवाणी के महानिदेशक लीलाधर मण्डलोई को प्रमोद वर्मा काव्य सम्मान-2011 तथा 'दुनिया इन दिनों' के प्रमुख सम्पादक एवं वरिष्ठ कवि सुधीर सक्सेना को प्रमोद वर्मा काव्य सम्मान-2012 से एक गरिमामय समारोह में सम्मानित किया गया। वरिष्ठ लेखक एवं विचारक कनक तिवारी की अध्यक्षता एवं सुविख्यात आलोचक व कवि डॉ. प्रभात त्रिपाठी के मुख्य आतिथ्य में सम्पन्न इस आयोजन में छत्तीसगढ़ी राजभाषा आयोग के अध्यक्ष पं. दानेश्वर प्रसाद शर्मा एवं समालोचक श्री पूर्णचन्द्र रथ विशेष अतिथि के रूप में उपस्थित थे।

स्वागत वक्तव्य में साहित्य की चौपाल के संयोजक अशोक सिंघई ने दिया। कनक तिवारी ने प्रमोद वर्मा सम्मान के लिये आयोजक संस्थान एवं सम्मानित कवि लीलाधर मण्डलोई एवं सुधीर सक्सेना को बधाई व शुभकामनायें देते हुये कहा कि जो रचना मनुष्य के आंतरिक एवं बाह्य संघर्षों से जुड़ी नहीं है, वह कविता नहीं है। डॉ. प्रभात त्रिपाठी ने कहा कि इन दोनों सम्मानित कवियों ने अपनी भाषाई सहृदयता के कारण मनुष्य के आंतरिक दुखों और उनके कारणों को बखूबी समझा और रचा है। पूर्णचन्द्र रथ ने भी दोनों सम्मानित कवियों के रचनाकर्म की मीमांसा की।

विराट सम्मानित

वरिष्ठ गीतकार चन्द्रसेन विराट को जबलपुर की साहित्यिक संस्था 'वर्तिका' ने वर्ष 2012 का 'हिन्दी वांग्मय भूषण' अलंकरण प्रदान कर सम्मानित किया। कोटा की साहित्यिक संस्था 'भारतेन्दु समिति ने भी 'शंभुदयाल सक्सेना सम्मान' देकर उन्हें सम्मानित किया। पिछले दिनों ये दोनों सम्मान कवि विराट को उनके गीत, गजल, मुक्तक एवं दोहों के विशिष्ट अवदान के लिये प्रदान किये गये। श्री विराट के दो दर्जन से अधिक काव्य-संग्रह प्रकाशित हैं।

वाजपेयी की पुस्तकें लोकार्पित

कवि और आलोचक अशोक वाजपेयी के जन्मदिन पर दिल्ली में आयोजित एक आत्मीय समारोह में उनकी चार पुस्तकों के अलावा उन्हें लिखे गए पत्रों के एक संकलन का लोकार्पण हुआ। वाजपेयी ने इस अवसर पर अपने मित्रों और प्रशंसकों के बीच अपनी कई नई कविताओं का पाठ किया और बहाउद्दीन डागर ने वाजपेयी के काव्य-पाठ के साथ-साथ और बाद में भी कुछ देर रुद्रवीणा वादन प्रस्तुत कर श्रोताओं को भावविभोर कर दिया।

इंडिया इंटरनेशनल सेंटर एनेक्सी में आयोजित कार्यक्रम में वाजपेयी की नई कविताओं के संकलन 'कहीं कोई दरवाजा' का लोकार्पण कवि कमलेश ने किया। यह पुस्तक राजकमल प्रकाशन ने छापी है। ओम निश्चल द्वारा संपादित और किताबघर की ओर से प्रकाशित वाजपेयी की प्रेम कविताओं के संचयन 'आश्चर्य की तरह खुला है संसार' का लोकार्पण चित्रकार सैयद हैदर रज़ा ने किया। आंतोनियो पोर्किया की कविताओं के अनुवाद 'हम छाया तक नहीं' को लोकार्पण सुरेश शर्मा ने किया। अर्जेंटीना कवि पोर्किया की कविताओं का हिन्दी रूपांतरण वाजपेयी ने किया है और यह पुस्तक यात्रा बुक्स ने प्रकाशित की है। सूर्य प्रकाशन मंदिर से प्रकाशित वाजपेयी की संगीत, नृत्य और ललित कला पर प्रकाशित तकरीबन पांच सौ टिप्पणियों के संचयन 'पुनर्भव' का लोकार्पण रश्मि वाजपेयी ने किया। इसके अलावा पत्रों के संचयन 'अकथ' का लोकार्पण स्वयं अशोक वाजपेयी ने किया, जिसका संपादन मनीष पुष्कले ने किया है।

न्यायपालिका और मीडिया के प्रति भरोसा कायम

म.प्र. राष्ट्रभाषा प्रचार समिति एवं हिन्दी भवन न्यास के संयुक्त तत्वाधान में हिन्दी भवन, भोपाल में न्यायमूर्ति पद्मभूषण चन्द्रशेखर धर्माधिकारी के मुख्य आतिथ्य और म.प्र. के लोकायुक्त प्रकाश प्रभाकर नावलेकर की अध्यक्षता में 'भारतीय प्रजातंत्र : न्याय पालिका और मीडिया का दायित्व' विषय पर ग्यारहवीं शरद व्याख्यानमाला सम्पन्न हुई।

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

इस अवसर पर वाराणसी के प्रख्यात कोशकार एवं व्याकरण डॉ. बद्रीनाथ कपूर को न्यायमूर्ति धर्माधिकारी ने 31 हजार की सम्मान राशि, शॉल, श्रीफल, स्मृति चिन्ह और प्रशस्ति पत्र प्रदान कर वर्ष 2012 के 'श्री नरेश मेहता स्मृति वाङ्मय सम्मान' से अलंकृत किया।

इस अवसर पर सम्मान से अलंकृत डॉ. बद्रीनाथ कपूर ने कहा कि शब्दकोश तैयार करने के लिए हिन्दी के ढांचे को समझना परम आवश्यक है। शब्द पर तो देश में बहुत काम हुआ है किन्तु उन्होंने वाक्य के आधार पर कोश कार्य को विशेष महत्व दिया है। प्रारंभ में म.प्र. राष्ट्रभाषा प्रचार समिति एवं हिन्दी भवन न्यास के अध्यक्ष प्रो. रमेश दवे ने प्रस्तावना वक्तव्य देते हुए अतिथियों का स्वागत किया। कार्यक्रम के दौरान सप्रे समाचार पत्र संग्रहालय की ओर से डॉ. बद्रीनाथ कपूर का शॉल, श्रीफल से सम्मान करते हुए उन्हें संग्रहालय का प्रकाशन 'हिन्दी पत्रकारिता की शब्द संपदा' भेट किया।

न्याय मूर्ति चन्द्रशेखर धर्माधिकारी ने प्रजातंत्र, न्यायपालिका और मीडिया तीनों विषयों पर अपने विचार रखे। आपने कहा कि अब हमारे देश की सामान्य स्थितियां बदल रही हैं, मूल्यों में भी बदलाव आ रहा है। ऐसे समय में न्यायपालिका और मीडिया दोनों को सतर्कता के साथ अपने दायित्वों को निभाना होगा जिससे कि वे अपनी-अपनी भूमिका के साथ न्याय कर सकें।

व्याख्यानमाला के अध्यक्ष के रूप में बोलते हुए न्यायमूर्ति प्रकाश प्रभाकर नावलेकर ने कहा कि न्यायालयों में प्रकरणों के निपटारे में होने वाला विलंब चिंताजनक है। लोक अदालतों के कार्य और न्यायाधीशों की नई नियुक्तियों को देखते हुए विश्वास किया जाता है कि प्रकरणों के निपटारे में तेजी आयेगी।

आपने कहा कि मीडिया को सही बातों को सामने लाना चाहिए और वह यह कार्य इन दिनों कर भी रहा है लेकिन घटनाओं और प्रसंगों को अनावश्यक रूप से उभार कर रखने से नकारात्मक प्रभाव पैदा हो रहा है। प्रारंभ में भोपाल के युवा पत्रकार दीपक तिवारी ने अपने व्याख्यान में मीडिया में आये क्रमिक परिवर्तन, उसके सामने उपस्थित चुनौतियों और व्यावसायिक तकाजों के संबंध में विस्तार से चर्चा की।

मेहता का रचना पाठ

स्वतंत्रता संग्राम में भाग ले चुके एक शिक्षक अपने आदर्शवाद को बचाने की बहुत कोशिश करते हैं, लेकिन अंततः उन्हें भ्रष्ट व्यवस्था के सामने समर्पण करना पड़ता है। वहीं, नौकरी के लिए परदेस गए एक व्यक्ति को 15 साल बाद अहसास होता है कि यहां उसकी अगली पीढ़ी कुसंस्कार ग्रहण कर रही है तो वह अपने देश वापस आने का निर्णय लेता है। यह केंद्रीय भाव था वरिष्ठ रंगकर्मी सतीश मेहता की रचनाओं का। उन्होंने अपनी इन रचनाओं का पाठ भोपाल के स्वराज भवन में किया।

निराला सृजनपीठ द्वारा आयोजित इस कार्यक्रम में सतीश मेहता ने अपनी कहानी 'मछलियाँ मरती हुई' का पाठ करते हुए एक ऐसे शिक्षक की दास्तां बताई जो अपने मूल्यों और आदर्शों को बनाए रखने के लिए वर्षों संघर्ष करते हैं लेकिन समाज की भ्रष्ट व्यवस्था अंततः उन्हें अपने आदर्श छोड़ने पर मजबूर कर देती है। मेहता ने नाटक 'दूर देश की गंध' का पाठ भी किया। यह नाटक एक प्रवासी भारतीय युगल नीरज और चारू के अपने संक्कारों को बचाने के संघर्ष को बयां करता है। मेहता की इन नाट्य कृतियों को उपस्थित श्रोताओं ने हिन्दी रंग संसार की महत्वपूर्ण सौगातें बताया।

कार्यक्रम की अध्यक्षता साहित्यकार कैलाशचंद्र पंत ने की। इस मौके पर निराला सृजनपीठ के निदेशक दिवाकर वर्मा सहित शहर के कई रचनाकार उपस्थित थे।

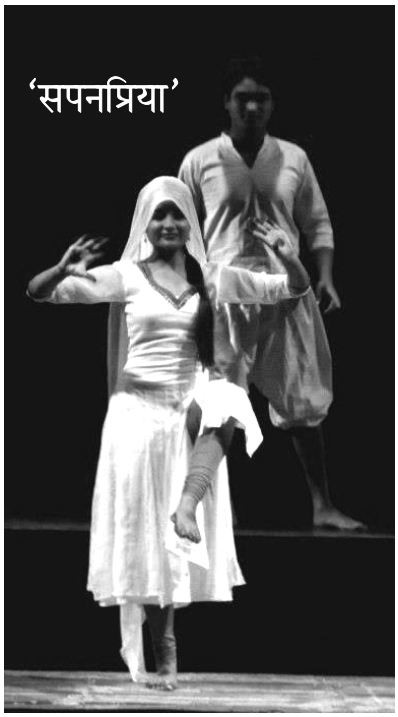

पटना में विहान कला समूह की प्रस्तुति

रंगमंच और कला के दीगर पहलुओं से वावस्ता भोपाल की रचनात्मक संस्था 'विहान कला समूह ने पिछले दिनों पटना में आयोजित 28वें पाटलिपुत्र नाट्य महोत्सव में विजयदान देथा की कहानी सपनप्रिया का मंचन युवा रंग निर्देशक सौरभअनंत के निर्देशन में किया। सैकड़ों कला रसिकों की उपस्थिति में कल्पना के रंग समेटे और उम्मीद की दस्तक देते विहान के युवा कलाकार पटना स्थित कालिदास रंगालय के मंच पर प्रस्तुत हुए। नाट्य महोत्सव की तीसरी शाम फरवरी की सात तारीख को कलात्मक सौंदर्य और कविता तथा संगीत के अद्भुत सम्मोहन ने जैसे कला के रसिकों को बांध लिया। विदा लेते ठण्ड के मौसम में जब गुलाल उड़ाते सपनप्रिया के पाँव मंच पर पड़े तो मानो देथा की स्वप्न प्रिया सजीव हो उठी। लोककथा के प्रस्तुतिकरण और देशज विन्यास का यह नाट्य रूपांतरण निर्देशन के मानकों पर सुन्दर प्रयोग की सुंदर अभिव्यक्ति साबित हुआ। अभिनय कविता और संगीत की जुगलबंदी, प्रकाश परिकल्पना में चटख रंगों के कुशल प्रयोग और मंच सज्जा से लेकर वेशभूषा तक में पगी यह कलात्मक यात्रा अपने संप्रेषण और मंतव्य को नाट्य शिल्प में भव्यता से रेखांकित करती नजर आई।

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

बाज़ार, सिनेमा और भाषा

आकाशवाणी भोपाल राजभाषा कार्यान्वयन समिति द्वारा दुष्यन्त कुमार स्मृति व्याख्यान माला के अंतर्गत 'सिनेमा की भाषा व हिन्दी का प्रसार' विषय पर एक व्याख्यान का आयोजन किया गया, जिसमें मुंबई से पधारे 'सिने विशेषज्ञ व समीक्षक जयप्रकाश चौकसे ने अपने तार्किक पक्ष रखे। पत्रकार और फिल्म विशेषज्ञ राजकुमार केसवानी ने अध्यक्षता की।

श्री चौकसे ने अपना व्याख्यान प्रस्तुत करते हुए कहा कि- सिनेमा के अविष्कार के महीने भर बाद ही मैक्सिम गोर्की और दार्शनिक बर्गसन ने इसका प्रदर्शन देखा तथा उनकी प्रारंभिक टिप्पणियों ने ही सिनेमा की भाषा, उसके ग्रामर और मुहावरे को निश्चित कर दिया। मशीन की कोख से जन्मी इस विधा में पहले अठारह वर्ष तो मूक सिनेमा के थे परन्तु ध्वनि के आने के बाद भाषा का प्रयोग प्रारंभ हुआ।

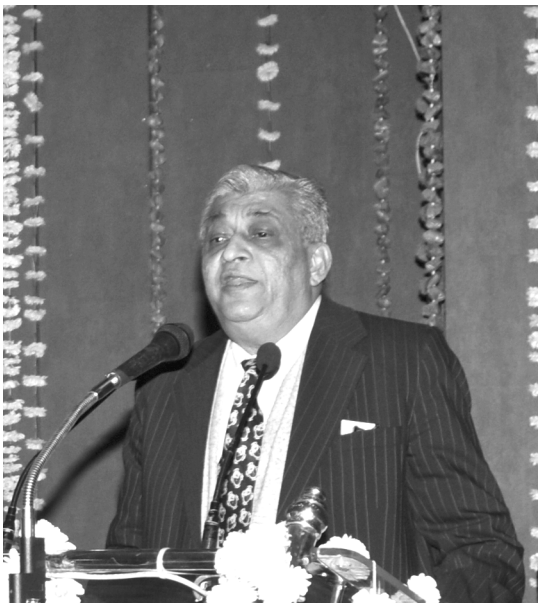

फिल्म समीक्षक जयप्रकाश चौकसे का व्याख्यान

भारतीय सिनेमा के उद्भव के समय ही देश के विभिन्नक्षेत्रों और अंचलों के लोग इससे जुड़े, अतः इसकी कामकाजी भाषा अंग्रेजी तय हुई क्योंकि इसकी सारी तकनीकी किताबें भी अंग्रेजी में थी। अंग्रेजी में लिखी पटकथा से हिन्दुस्तानी में संवाद के अनुवाद के कारण संवाद लेखक की श्रेणी बनी जो दुनिया के किसी अन्य देश में नहीं है। इस प्रक्रिया के कारण इसमें सभी भाषाओं के शब्दों का समावेश हुआ। मुंशी प्रेमचंद, सआदत हुसैन मंटो, राजिंदर सिंह बेदी, कृष्णचंद, प्रेमी जी आदि लेखखों ने इस माध्यम को समृद्ध किया।

हिन्दी फिल्मों के गीत-संगीत ने हिन्दी का प्रसार बहुत किया। यहाँ तक कि दक्षिण में राजनैतिक शक्तियों द्वारा हिन्दी विरोध के वर्षों में गीत संगीत के माधुर्य के कारण दक्षिण के लोगों ने हिन्दी सीखी। इसी गीत-संगीत के कारण खाड़ी के देशों, रूस और चीन में भी लोगों ने हिन्दी सीखी। आज के दौर में बाज़ार और विज्ञापन की ताकतों ने हिन्दी का अहित किया है और देनागरी लिपि के लोप का षड़यंत्र भी करके रोमन लिपि को महत्व दिया जा रहा है, जो बहुत घातक है तथा इस षडयंत्र को विफल करने की जिम्मेदारी हम सब की है।

अपने अध्यक्षीय उद्बोधन में राजकुमार केसवानी ने कहा कि भाई जयप्रकाश की चिंताओं से मैं इत्तफाक रखता हूँ और यह सच है कि बाजार और विज्ञापनों की दुनिया आर्थिक उदारीकरण और वैश्वीकरण के इस युग में हमारे देश की देवनागरी, हिन्दी, लोक बोलियाँ/ प्रादेशिक भाषाएँ तथा हिन्दी का अहित लगातार हो रहा है व चाहे हमारी लोक बोलियाँ हों अथवा लोक भाषाएँ या प्रादेशिक भाषाएँ इनके साथ-साथ हिन्दी के भी विलुप्त होने का खतरा मंडरा रहा है। स्वागत उद्बोधन हेतु प्रभारी रामस्वरूप रतौनिया ने किया। राजीव श्रीवास्तव हिन्दी अधिकारी ने महानिदेशक लीलाधर मंडलोई का संदेश पढ़ा। डॉ. साकेत अग्निहोत्री, कार्यक्रम अधिकारी ने आभार प्रकट किया। संचालन अनिल मुंशी ने किया। **-राजीव श्रीवास्तव**

करीब एक घंटे की इस प्रस्तुति को हेमंत देवलेकर के संगीत और युवा रंगकर्मी अनुज उज्जवणे की प्रकाश परिकल्पना के तालमेल ने अनोखे आकर्षण में बाँधे रखा। कथ्य के सम्प्रेषण में निर्देशक सौरभ अनंत का शिल्प और परिकल्पना संज्ञान उभरकर आता है। विहान की इस प्रस्तुति को दर्शकों का योग्य प्रतिसाद मिला। उल्लेखनीय है कि राष्ट्रीय स्तर पर आयोजित इस नाट्य समारोह में लखनऊ, कोलकाता, जम्मू जैसे शहरों और मणिपुर, आसाम, ओडिशा, बिहार जैसे राज्यों के नाट्य दल आमंत्रित थे।

मनीषा को लमही सम्मान

हिन्दी की युवा कथाकार मनीषा कुलश्रेष्ठ को प्रतिष्ठित 'लमही' सम्मान प्रदान करने की घोषणा की गई है। वर्ष 2012 का यह घोषित करते हुए निर्णायक मंडल ने कहा है कि मनीषा कुलश्रेष्ठ सघन संवेदन, व्यापक सरोकार, सतर्क बौद्धिकता और रचनात्मक समृद्धि की दृष्टि से एक अद्भुत कथाकार हैं। महान कथाकार प्रेमचंद की स्मृति में दिया जाने वाला यह लमही सम्मान मनीषा में एक विराट कथा परंपरा विकसित होते देख रहा है। इस चौथे लमही सम्मान के निर्णायक मंडल में प्रख्यात पत्रकार आलोक मेहता, सुपरिचित फिल्मकार डॉ. चन्द्रप्रकाश द्विवेदी, आलोचक सुशील सिद्धार्थ, संपादक विजय राय और युवा प्रकाशक महेश भारद्वाज शामिल थे। अब तक यह सम्मान ममता कालिया, साजिद रशीद और शिवमूर्ति को प्रदान किया जा चुका है। यह सम्मान महान कथा शिल्पी मुंशी प्रेमचंद के जन्मदिन की पूर्व संध्या पर 30 जुलाई 2013 को नई दिल्ली में आयोजित समारोह में प्रदान किया जायेगा।

ब्रज का नया संग्रह

विदिशा (म.प्र.) निवासी युवा कवि ब्रज श्रीवास्तव का द्वितीय कविता संग्रह 'घर के भीतर घर' का लोकार्पण विश्व पुस्तक मेला, नई दिल्ली में वरिष्ठ कवि, लेखक लीलाधर मंडलोई ने किया। इस अवसर पर कवि आलोचक जितेन्द्र श्रीवास्तव, ललित शर्मा, लता शर्मा, अशोक कुमार पांडेय, सुदिन श्रीवास्तव उपस्थित थे। इसके पूर्व ब्रज श्रीवास्तव का प्रथम कविता संग्रह 2003 में तमाम गुमी हुई चीजें प्रकाशित होकर चर्चा में रहा है।

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

रवीन्द्र का रचना पाठ

स्पंदन शोध संस्थान भोपाल की ओर से युवा कवि रवीन्द्र स्वप्निल प्रजापति का कविता पाठ आयोजित किया गया। इन कविताओं में जीवन की विविधता को पूरी मार्मिकता से उठाया गया है। उनकी भाषा और मुहावरे में नयापन है। वे कविता को एक कोमल टच देकर भावपूर्ण बनाते हैं। उन्होंने अपनी कविता की शुरुआत अपनी प्रारंभिक कविताओं से की।

पहली कविता थी- ''बहुत अच्छा लगता है नदी के पास बैठकर नदी को देखना/ अपनी दोस्त के साथ रहना और हल्का हल्का महसूस करना/इस नदी का पानी साफ है और अपनी बेतवा गंदी हो चुकी है/सड़कों ने कहा

सब गड़बड़ है और सिगरेट का धुँआ लहरा दिया'' उनकी दूसरी कविता थी कोलाज, जिसमें उन्होंने पूरी धरती को समाहित करने की कोशिश की है- ''खंडहरों खेतों और जगमगाते शहरों में फैला हुआ/ इस कोलाज में एक ओर सूरज है दूसरी ओर चांद/धरती पर सूरज चला तो गंगा बहने लगी/चांद चला तो नील बन गई''।

कार्यक्रम की अध्यक्षता करते हुए आलोचक एवं कवि डॉ. विजय बहादुर सिंह ने कहा कि रवीन्द्र की कविताएँ अनुभव को दोहराती हैं, वे अनुभवों और विचारों दोनों का अतिक्रमण करती हैं। कार्यक्रम का संचालन उर्मिला शिरीष ने किया।

मीणा को बिहारी पुरस्कार

केके बिरला फाउंडेशन द्वारा 'बिहारी पुरस्कार' के लिए जयपुर के हरिराम मीणा के उपन्यास 'धूणी तपे तीर' को चुना गया है।

बिहारी पुरस्कार में प्रशस्ति, प्रतीक चिन्ह व एक लाख रुपए की राशि भेंट की जाती है। के.के. बिरला फाउंडेशन द्वारा हर साल दिए जाने वाले तीन में से एक बिहारी पुरस्कार है। श्री मीणा के चयन पर रचनाधर्मी समाज ने बधाई प्रेषित की है।

भारत भारती

भारत भारती और फूलमती

आकाशवाणी भोपाल द्वारा आयोजित दो दिवसीय नाट्य समारोह में राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त द्वारा रचित काव्यकृति 'भारत भारती' तथा नाटक 'फूलमती' का मंचन किया गया।

भोपाल के शहीद भवन में पहले दिन 17 जनवरी को रीवा के 'पारिजात रंग समूह' द्वारा 'फूलमती' खेला गया। नाटक के लेखक योगेश त्रिपाठी के ही निर्देशन में इस नाटक का मंचन हुआ जिसमें वर्तमान में महिलाओं की वास्तविक सामाजिक स्थिति का चित्रण करते हुए नारी सशक्तिकरण की हिमायत तथा समाज की उस स्थिति का चित्रण किया गया जिसमें महिलाएं आज भी अपने अधिकारों के लिए संघर्षरत हैं। दूसरे दिन 18 जनवरी को राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की चर्चित काव्यकृति 'भारत भारती' का मंचन रंगशीर्ष नाट्य संस्था भोपाल द्वारा किया गया। संजय मेहता के निर्देशन में मंचित यह नाटक पूरी तरह संगीतमय था, जिसमें कलाकारों का आहवान किया।

विचारधारा का अंत नहीं होता

आज के दौर में विचारधारा के सवाल ज्यादा जटिल हो गए हैं। विचारधारा लेखक की प्रॉपर्टी है रचना की नहीं। रचनात्मक व्यवहार में चिारधारा विन्यस्त होती है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि सत्ताओं का अंत होता है विचारधारा का नहीं। यह बात वरिष्ठ कवि आलोचक राजेश जोशी ने एनटीटीटीआईआई, भोपाल के मणि स्मृति सभागार में प्रो. कमला प्रसाद की याद में आयोजित पहले सत्र 'आलोचना का लोकतंत्र' कार्यक्रम को संबोधित करते हुए कही।

प्रगतिशील वसुधा तथा प्रो. कमलाप्रसाद स्मृति सांस्कृतिक संस्थान भोपाल द्वारा आयोजित इस कार्यक्रम के पहले सत्र को संबोधित करते हुए वसुधा के सम्पादक स्वयंप्रकाश ने कहा कि प्रो. कमलाप्रसाद की संगठनात्मक और आलोचकीय प्रतिबद्धताओं का नए सिरे से मूल्यांकन किए जाने की बहुत जरूरत है। साथ ही साहित्य व आलोचना के अंतर्संबंधों को नई स्थितियों के साथ सोचना होगा। आलोचक वीरेन्द्र यादव ने कहा कि कोई भी साहित्यिक रचना महज रचनात्मक निर्माण नहीं होती बल्कि सामाजिक वैचारिक निर्माण भी होती है। जबकि युवा आलोचक वेदप्रकाश ने कहा कि प्रो. कमलाप्रसाद निजता के विरोधी नहीं थे बल्कि इस बात पर जोर देते थे कि आधुनिकता की मूल अवधारणा शोषितों को मुक्ति दिलाने की है। कवि विनीत तिवारी ने कहा कि कमलाप्रसाद जी अपनी जिद व अनुभवों के साथ अगली पीढ़ी से आत्मीय रिश्ता रखते थे। ईश्वर सिंह दोस्त ने भी संबोधित किया। इस अवसर पर किताब-ताकत आधी दुनिया की, आधुनिक हिन्दी का उदय और कविता, चित्तीप्रसाद के चित्रों पर एकाग्र, व्यंग्य की व्याप्ति और गहराई तथा वसुधा के ताजे अंक का लोकार्पण भी हुआ। सत्र का संचालन आशीष त्रिपाठी ने किया। स्वागत उद्बोधन वसुधा के संपादक राजेंद्र शर्मा ने किया। कार्यक्रम के अंतिम चरण में वरिष्ठ आलोचक कवि विजय कुमार, नरेश सक्सेना, विजय बहादुर सिंह, सेवाराम त्रिपाठी तथा शशांक ने भी संबोधित किया। संचालन ओम भारती ने किया।

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

मनोरंजन की आधुनिक इबारत के आसपास सिमटी रहने वाली हिलोरें नहीं, जहाँ उथले कलाबोध का बोलबाला और जश्न के नाम पर मौज-मस्ती के साजो-सामान सजे हों, ये उस उत्सव की तस्वीर है जहाँ परंपरा से रस लेकर जीवन की संघर्ष भूमि को सींचने के सपने और संकल्प रंगमंच पर अंगड़ाई लेत हैं। जहाँ सवाल हैं, संवेदनाएँ हैं, संवाद हैं, धूप-छाँही जिंदगी के अक्स हैं। किरदारों की बेचैनियों से निकलकर अवाम के सीने में भरोसे की उस ऊष्मा को रोपने की फितरत है जिसका मकसद अंततः इस धरती पर मानवीय सौहार्द, शांति और समरसता की सनातनता को बचाए रखना है।

दस दिन - दस नाटक

भोपाल की रंगभूमि इसी रचनात्मक प्रतिबद्धता के साक्ष्य बटोरने के मकसद से जनता के प्रेक्षागृह में आने का सबब बनती रही है। विश्वरंगमंच दिवस (यानी 27 मार्च) पर दस दिवसीय नाट्य उत्सव की परिकल्पना साथ मुसलसल जुड़ती गयी रंगकर्मियों और दर्शकों की सामूहिक इच्छा शक्ति। इस बहाने एक और महत्वपूर्ण पहलू इस गतिविधि के साथ जुड़ा वनमाली सृजन पीठ का, जिसने अपने समय के एक ज़रूरी और सार्थक सांस्कृतिक उपक्रम की जनतांत्रिक छवि को निखारने सहयोग का हाथ आगे बढ़ाया है।

इस बार इस उत्सव में दस प्रस्तुतियों का कोलाज तैयार हो रहा है जिससे आँखें मिलाकर अपनी समकालीन रंग ऊर्जा को जानने परखने का अवकाश दर्शकों को मिल सकेगा। त्रिपुरारी शर्मा, अरुण पाण्डे, के.आसिफ, गीता अग्रवाल, प्रगति पांडे, नज़ीर कुरेशी, संजय मेहता, मनोज नायर और राकेश सेठी जैसे वरिष्ठ युवा निर्देशक अपने नव उत्साही रंगकर्मियों को साथ लेकर अपनी आमद दर्ज कर रहे हैं। वहीं 'नया थियेटर' की प्रस्तुति गाँव के साथ ससुराल, मोर नाम दामाद' के ज़रिए हबीब तनवीर के हस्ताक्षर एक बार फिर रौशन होंगे। इस जलसे

विश्व रंगमंच दिवस पर रंग आधार और वनमाली सृजन पीठ का साझा रंगोत्सव

के बहाने हिन्दी रंगमंच पर नाट्य सृजन की जवाबदेही की गंभीरता तय होती है। यह भी कि जिस प्रतिभा और परिश्रम की दरकार दर्शकों को रही है वह कितनी महफूज़ है। बहस-मुबाहिसें होती हैं।

रंग आधार का यह जलसा यह साबित करता है कि उम्मीदों का हरा-भरापन अभी काफूर नहीं हुआ है। यह प्रयोजन एक अर्थ में कला और रसिकों के बीच नए विमर्श का प्रस्ताव भी है।

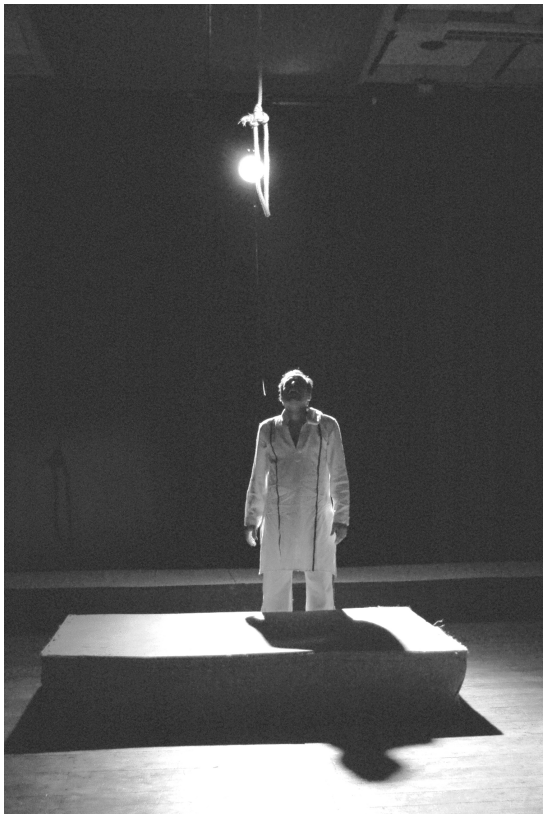

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

दौर मीडिया की महिमा का है। होड़ का है। रिझाने का है। वर्चस्व का है। और इन सबके केन्द्र में है- जनता। समाज से रिश्ता बनाने और उसे अपने समय, जीवन और तमाम सरोकारों के प्रति सजग-संवादी बनाए रखने के अनेक नए इज़ाद हो चुके ज़रियों पर लंबी जिरह की गुंजाइश है। ऐसे में नाटक या रंगमंच जैसे अत्यंत आदिम या पारंपरिक माध्यम की उपयोगिता को या उसकी भूमिका को अथवा उसकी बनती-बिगड़ती या बदलती तस्वीर पर भी विमर्श की जगह तो बनती ही है।

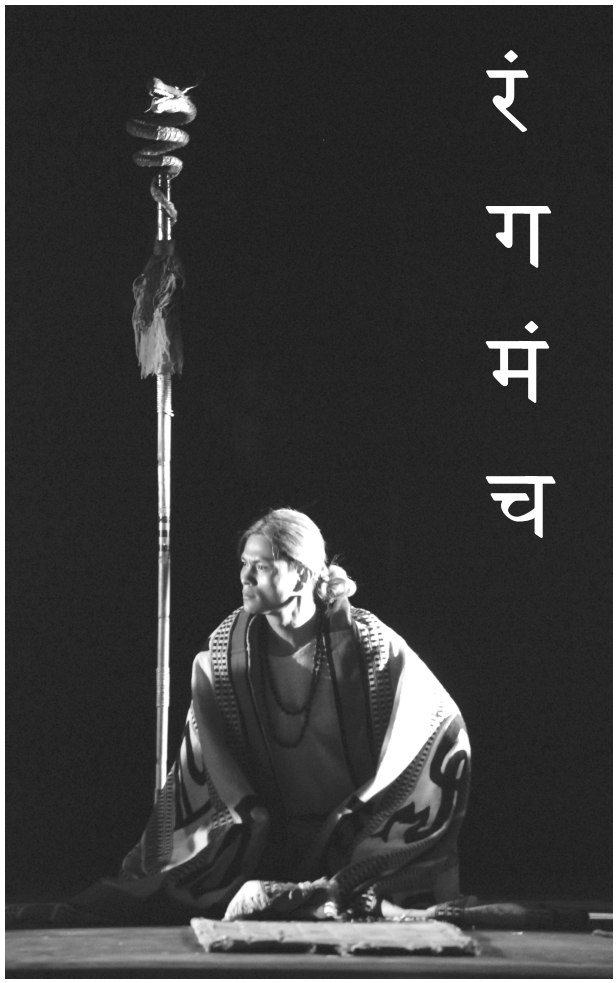

गुणकारी और बेहतर की तलाश

शेष विशेष

विनय उपाध्याय

तमाम सवाल उठाने से पहले यह मानना तो लाजिमी है कि समाज से सीधे आँख मिलाकर बात करने का एकमात्र माध्यम नाटक ही है जिसे तत्काल समाज अपनी प्रतिक्रिया भी लौटाता है। नाटक दुनिया का दर्पण है जिसमें हमारे समय के गुण-दोषों के अक्स साफ-तौर पर झिलमिलाते हैं। ऐसा ईमानदार आईना, जो सच्ची राहों पर चलना सिखाता है। यही खासियत उसे दुनिया से जोड़ती है और जिम्मेदार भी बनाती है। तभी तो हमने अपने समय में रवीन्द्रनाथ टैगोर से लेकर पु.ल. देशपाण्डे, विजय तेंदुलकर, बादल सरकार, इब्राहिम अल्काज़ी, सफदर हाशमी, हबीब तनवीर, ब.व. कारंत, नीलम मानसिंह चौधरी, छाया गांगुली, रतन थियाम और एम.के. रैना जैसे जीवट और जुझारू रंगकर्मियों को विश्वरंगमंच पर स्थापित होते देखा है। जिन्होंने नाटक को जनरंजन के साथ जनजागृति के बेहतर ज़रिए के बतौर इस्तेमाल करते हुए रंगभूमि पर अफनी शिनाख़्त कायम की।

दरअसल जीवन और रंगमंच एक-दूसरे के पर्याय हैं और दोनों को ही दृश्य तथा भाषा की परिधियों में सिमटकर समझना सदा एक अधूरा उपक्रम रहा है, लेकिन उसके रहस्यों, कौतुहलों और जिज्ञासाओं से गुज़रना और उससे एक प्रीतिकर रिश्ता बनाने की ललक सदा से रही है। यही वजह है कि समाज को रंगमंच की और रंगमंच को समाज की ज़रूरत बनी रहती है। यह अनटूटी और आत्मीय परस्परता ही दोनों के अस्तित्व को बचाए हुए है। तमाम ज़द्दोज़हद के, ज़िद और जिजीविषा बाकी है। दरअसल रंगमंच का क्षेत्र, उसकी व्याप्ति और प्रभाव बड़ी ही सघन और गहरी पैठ लिए होते हैं। वह व्यक्ति के समूचे जीवन को, उसकी कार्यवाहियों को, आँसू और मुस्कुराहटों को अपने समय की तमाम हलचलों को, स्थान तथा समय की स्वाधीन चेतना के बीच घेरता है। प्रेक्षकों के बीच स्वभाविक अन्तर्क्रिया की संभावना टटोलता है। रंगमंच के खुले फलक पर नाटक अपनी इसी शक्ति के कारण सदा प्राणवान बना रहा है।

अत्युक्ति नहीं कि दुनिया में जो कुछ भी घट रहा है, नाटक के दायरे से बाहर नहीं, इसीलिए संसार को एक सूत्र में बाँधने की कुव्वत नाटक में है। वहाँ विचार और कला के लेन-देन का खुला व्यापार है। उसकी इसी लोकतांत्रिक ताकत का तक़ाज़ा है कि वह (नाटक) एकांतिक साधना में भरोसा नहीं करता। समूह में उसका विचार

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

अँखुआता है, समूह में खिलता है और समूह को ही समर्पित होता है। कालिदास ने नाटक को 'चाक्षुष यज्ञ' कहा है। आँख जो देखती है, शब्द उसका अनुमोदन करते हैं और इस प्रकार नाटक का शाब्दिक रूप और रंगमंच पर गढ़ा स्थूल बिंब जीवन की एक जीती-जागती तस्वीर खड़ी कर देते हैं। यहीं पर विचार और मनोरंजन के बीच एक दिलचस्प पुल करता हैं। उसी दिलचस्पी के साथ जुड़े होते हैं नेपथ्य से लेकर मंच तक कई प्रकट और ओझल किरदार जिनकी प्रतिभा, पुरुषार्थ और परिश्रम से नाटक अंततः एक जीवंत तस्वीर और तासीर में तब्दील होता है।

इस विपरीत समय में जब रुपहले परदे की रंगत, टीवी चैनलों की झिलमिलाहट और तमाम तकनीकी-सेटेलाइट उपकरणों की सरसराहट ने हमारी संवेदनाओं को अपनी मुट्ठी में कैदकर लिया हो। पर भर में 'जहाँ हो, जैसे हो' की हालत में हथेली पर मनमाफिक अवतरित करने की दावेदारी हो, तब रात-दिन रेशा-रेशा खटते हुए पथरीली राहों से गुजरकर रंगकर्म का दुःस्वप्न देखने की फितरत बेमानी लग सकती है। लेकिन कुरुचि के कोलाहल में रुचि का सरगम कभी दबा-मंदा जरुर लगे पर वह पूरी तरह काफूर नहीं हुआ। उत्तर आधुनिकता के चंगुल से उसने अपना दामन काफी हद तक बचाए रखा है और नई चुनौतियों से आँख-मिलाते हुए उसके कदम आगे बढ़ रहे हैं। कारंतजी ठीक कहते थे- 'नाटक कभी मरता नहीं, कभी-कभी सो ज़रूर जाता है।'

सवाल ये है कि जनता का यह माध्यम आज कितना प्रतिबद्ध और दायित्व से भरा रह गया है?

थोड़ा पीछे जाकर पड़ताल करें भारतीय नाट्य सृजन और उनके मंचन की परंपरा से हमारा जीवन-दर्शन जुदा नहीं रहा। हमारे जीवन का सौन्दर्य बोध और लीला का संसार पूरी तरह रंगमंच पर मुखरित होता रहा है। भारतीय रंग परंपरा में यह तत्व आज भी बुनियादी खासियत बना हुआ है। नाट्य शास्त्र के रचयिता आचार्य भरतमुनि ने नाटक को कलाओं की समग्रता कहा है। संस्कृत नाटक और उनके प्रदर्शन की परंपरा से लेकर आज वैश्विक प्रभावों के साथ मंचित हो रहे आधुनिक भारतीय नाटकों के प्रयोग तक कलाओं की रचनात्मक नातेदारी या कहें जरूरी लेन-देन को लक्ष्य किया जा सकता है। निश्चय ही यह आग्रह इसलिए बरकरार है कि नाटक की कसौटी अंततः उसका मंचन है जो सीधे जनता के बीच जाकर उसकी आवाज़ में आवाज़ मिलाता है। एक ऐसा माध्यम जो कलाकारों के लिए इम्तहान है और उसके सैकड़ों-हज़ारों लाखों परीक्षक हैं। ज़ाहिर है कि उसकी साज-सँवर और अभिव्यक्ति के मानक लोक की अदालत में ही तय होते रहे हैं। लोक संस्कृति के अध्येता डॉ. कपिल तिवारी कहते हैं- दुर्भाग्य से भारतीय रंग सर्जना से आज उसका लोक पूरी तरह जुड़ नहीं पाया है। जितना प्रभावी यह माध्यम है, जितनी महिमा इसकी गायी जाती है उतनी गहरी पैठ आज यह नाटक अपने समाज में बना नहीं पाया है। मराठी, बाँग्ला और कुछ हद तक दक्षिण को भी शामिल करें तो इनकी तुलना में हिन्दी रंगमंच बेहद पिछड़ा और सर्जना के स्तर पर उदासीन दिखाई देता है।'' ये सच है कि दर्शकों को बहुत नियमित और गुणवत्तापूर्ण नाटक देने की कोशिशों पर पाला पड़ गया है। नए रंगकर्मियों की आमद सिर्फ नाटक को सीढ़ी बनाकर सिनेमा और टी.वी. के सपने पूरे करने तक सिमट गई है। नाटक या तो प्रोजेक्ट ओरिएंटेड हो गए हैं या राजनीति की भाषा बोलने लगे हैं, ऐसे में जनता का विश्वास और जल्दबाज़ी में हुए रंगकर्म से सृजन की सुवास दोनों ही काफूर हो रहे हैं।

नाटक एक ऐसा माध्यम है जो कलाकारों के लिए इम्तहान है और उसके सैकड़ों-हज़ारों-लाखों परीक्षक हैं। ज़ाहिर है कि उसकी साज-सँवर और अभिव्यक्ति के मानक लोक की अदालत में ही तय होते रहे हैं।

हमें इस बात पर गौर करने की ज़रूरत है कि हिन्दी समाज अधिकांशतः लोकप्रिय माध्यमों में जीने वाला समाज है। हिन्दी फिल्में हिन्दी समाज को अपने मनोरंजन की गिरफ्त में लिए है। ग्रामीण और कस्बाई क्षेत्रों में अभी भी पारंपरिक कलारूप और लीला के विविध रूपों की ही प्रतिष्ठा है। देश के अनेक क्षेत्रों में मंडलियाँ छोटे शहरों-कस्बों और गाँवों में आकर लीला प्रदर्शन करती हैं। पारंपरिक लोकनाट्यों के प्रदर्शनों में भी लोक समाज की गहरी रुचि है ये जीवंत कला परंपरा है। इन कलारूपों तथा इनसे जुड़े कलाकारों का भी बहुत सम्मान है। बिडंबना आधुनिक रंगकर्म की है। जो शहरी क्षेत्र हैं या महानगर हैं, रंग आन्दोलन यहीं तक सीमित है।

दूसरा आधुनिक रंगकर्म का कोई रिश्ता अभी भी आधुनिक समाज से बन नहीं पाया है। ऐसी स्थिति में रंगमंच की सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए लम्बी यात्रा करनी होगी। लेखकों, निर्देशकों और अभिनेताओं को मिलकर जनता की रूह में बसी उस सच्ची रसिकता की टोह लेने की दरकार है जो उसे बार-बार नाटकों के करीब लाने को सोत्साह विवश करें। यहाँ राष्ट्रीय नाट्यविद्यालय दिल्ली के पूर्व निदेशक और प्रख्यात रंगकर्मी रामगोपाल बजाज की चिंता मौजूद लगती है। एक साक्षात्कार में उन्होंने मुझसे कहा था- 'आज़ादी के साथ बरस बाद भी नाटक जैसा सर्वाधिक जनतांत्रिक माध्यम सरकारोन की आँख नहीं चढ़ सका। नाट्य विद्यालय खोलने से क्या होगा अगर कलाकारों के भविष्य का पुख्ता इंतजाम हमने नहीं किया। इधर खेल गाँव बस जाते हैं, फिल्म पुरस्कारों की राशि बढ़ जाती है और रंगमंडलों की बहाली का सपना सुनहरे वादों के बीच दफन हो जाता है।'

फिर भी नाटक जीवित है कलाकारों के भीतर कसक बाकी है जो उसे चैन से बैठने नहीं देती। अपने सपनों से उलझने और जीवन के शाश्वत सवालों के जवाब आखिरकार नाटक में ही मुमकिन हैं।

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

पाठक संवाद

मध्यप्रदेश की सांस्कृतिक आवाजें हमेशा से ही मेरा ध्यान खींचती रही हैं फिर जब यह 'रंग संवाद' की शक्ल में उभरी तो आपसे दो बातें करने का मन हो रहा है। इस पत्रिका की गुणवत्ता के बारे में देश भर के पाठक-कलाधर्मी गुण गाते रहे हैं।

मुझे सबसे ज्यादा जिस पहलू ने आकर्षित किया वह इसकी समावेशी छवि और ताकत है। बड़े नामधारी लेखकों से लेकर नवोदित रचनाकार और राजधानियों-महानगरों से लेकर छोटे गाँव-कस्बे तक। इसकी पेंठ मैं देख रहा हूँ। 'कला और उत्तर आधुनिकता' शीर्षक संतोष चौबे का संपादकीय ब्रेख्त के बहाने सारी दुनिया में जीवन के सौन्दर्यबोध और नाटक की शक्ति पर बौद्धिक विमर्श करता है। डॉ. कमलेश दत्त त्रिपाठी तो भारतीय रंगमंच और उसके शास्त्र के गहन ज्ञाता हैं। अपने आलेख में उन्होंने कितना सामयिक तार्किक विश्लेषण किया है। रामप्रकाश त्रिपाठी के जरिए शांतिवर्धन जैसा महान बैले कलाकार पुनः उद्घाटित हुआ। लोक का आलोक 'कला मंजूषा', बरेदी और बुंदेली स्वांग में फैला है।

जनजातीय लोक नृत्य और संगीत को विनय उपाध्याय ने देह और वाद्यों की संगति में बिल्कुल नई तरह से चित्रित किया है। सुनील मिश्र ने यश चोपड़ा पर बड़ी ही हार्दिकता से लिखा है। निश्चय ही वे आधुनिक सिनेमा को प्रेम की नई परिभाषा दे गए। इस अंक में राजीव वर्मा की बेलौस बातचीत ने खासा आकर्षित किया। पंकज शुक्ला के प्रश्नों पर वे बिना लाग लपेट मुखर हुए हैं। उन्होंने ठीक ही फरमाया है कि- नाट्य संस्थाओं को अनुदान देने का स्वरूप बदलना होगा। कौन क्या, कैसा कर रहा है, देखने वाला कोई नहीं है। अगले अंकों में अगर नए नाटकों का प्रकाशन भी करने लगें तो यह पत्रिका की समृद्धि में इजाफा ही होगा।

-डॉ. भगवती प्रसाद, राऊरकेला

●●●

साहित्य कभी-कभी स्मृतियों के ऐसे किवाड़ खोलता है कि जहाँ वक्त के साथ देर गुफ्तगू की जा सकती है।

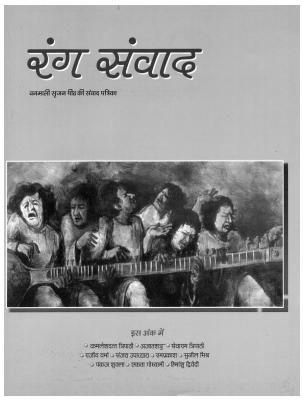

'रंग संवाद' के इस अंक में अजात शत्रु का लेख अब वे फकीर नहीं आते पढ़कर महानगरीय जीवन के साथ गुम होते गए किरदार याद आने लगे। उन दिनों मैं मध्यप्रदेश के नीमच शहर में रहता था। सुबह-सुबह एक नाथ निर्गुण भजन गाता हुआ हमारी बस्ती में प्रवेश करता। इकतारे पर खरज के सुर छेड़ती उसकी मुद्रा आज भी याद है। भजन तो याद नहीं लेकिन वो धुन बाल मन पर ऐसा असर करती कि उसके जाने के बाद भी जैसे आत्मा में उसकी गूँज बनी रहती। हम इस खोज में रहते कि सुबह-सबेरे प्रकट होने वाले अचानक कहाँ गायब हो गई वो बिरादरी। सचमुच विराट तरक्की के इस दौर में हमने बहुत कुछ पाया, पर जीवन के निर्मल आनंद से वंचित रह गए। अज्ञातशत्रु का आभार जो उन्होंने सोई-खोई याद को पुनः जीवित कर दिया।

-धीरेन्द्र भंसाली, परेल (मुंबई)

●●●

अजातशत्रु का ललित निबंध पढ़कर मैं अपने बचपन में सुने नजीर अकबराबादी की 'रोटियाँ' की तर्ज पर हाथ की लकड़ी और कड़ों से उपजी धुनें सुनता हुआ फकीर के साथ-साथ दूर तक निकल जाना याद करता रहा। अब समझ में आया कि ललित निबंध के लिए केवल भाषा का लालित्य ही उतना अनिवार्य नहीं है जितना मर्मस्पर्शी कथ्य। हेट्स ऑफ टू अजातशत्रु। राजीव वर्मा ने भी दो टूक जवाब दिए हैं। कितने दमखम से कहा- 'अनुदान की व्यवस्था बदल दो'। मूल आर्कीटेक्चर जो प्रोफेशनल था वह शौक हो गया और एक्टिंग का शौक उनका प्रोफेशन हो गया। वे सौभाग्यशाली हैं कि उनके साथ उनके मन जैसा हो गया। सचित्र रपटें पढ़कर सोचता रह गया कि साहित्य, रंग और संस्कृति में कितना काम निरंतर होता रहता है। खूब है भाई।

-चन्द्रसेन विराट, इंदौर

●●●

'रंग संवाद' का अंक पाकर अच्छा लगा। उसे पढ़कर और भी। संपादक की मेहनत साफ झलकती है।

-विश्वनाथ सचदेव, मुंबई

●●●

बच्चों की नाट्य गतिविधियों पर, उनके लिए हो रहे काम की दिशाओं, को लेकर डॉ. सेवाराम त्रिपाठी का आलेख पढ़कर आनंद आया। मार्गदर्शन भी मिला। दुर्भाग्य से आज बाल रंगमंच पर सन्नाटा है। जो लोग सक्रिय हैं उन्हें पर्याप्त संसाधन नहीं। इसलिए उत्साह और हिम्मत एक छोर पर जाकर साथ छोड़ देते हैं। शासन को बालनाटकों के मंचन के लिए विशेष अनुदान का प्रावधान रखना चाहिए। इस बीच सुना है कि संस्कृति विभाग मध्यप्रदेश शासन के अंतर्गत संचालित बाल रंगमंडल बंद हो गया।

-अरविंद तिवारी, भोपाल

●●●

राजीव वर्मा और संजय उपाध्याय ने सही अर्थों में रंग संवाद किया है। एक ने अपने अनुभव की सच्चाई को नई पीढ़ी से जोड़कर देखा है तो दूसरे ने अपनी यात्रा और उपलब्धियों के साथ जुड़े सपनों और जिदों को साझा किया। नाटकों की दुनिया में प्रवेश कर रहे कलाकारों को इन दो संवादों से बहुत सीखें मिल सकती हैं पंकज शुक्ला और एकता गोस्वामी को यह संजोने के लिए बधाई।

-मंगल नायर, ग्वालियर

●●●

संपादन के प्रति सजगता और सामग्री के रख-रखाव को लेकर जो दृष्टि 'रंग संवाद' ने अर्जित कर ली है, वह बेजोड़ है। आवरण पिछले मुख पृष्ठों की तुलना में कुछ फीका लगा लेकिन अंतिम पृष्ठ पर के. रवीन्द्र का रेखांकन लाजवाब।

-शुभ्रा भारती, नागपुर

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)